फ़िल्म पत्रकारिता का आदिकाल

चित्रपट की मिसाल

रविकान्त

चित्रपट

सिनेमा सम्बन्धी उच्च कोटि का हिन्दी साप्ताहिक

वार्षिक मूल्य ७)
इस अङ्क का =)

सम्पादक—

'तारा सुन्दरी'-नामक चित्रपट की एक अभिनेत्री

साहित्य-मण्डल, दिल्ली

धार्मिक कहानियों की ख़ुराक थोड़ी ज़्यादा ही दी जा रही है...उद्योग अब तीस साल का हो चला...इसे अब देश को ऐसी फ़िल्में देनी चाहिए, जो हमारे सामाजिक, आर्थिक और दैनंदिन जीवन के बारे में हों। ...यह भी एक तरह से हमारी कृतघ्नता है कि जो लोग हमें बेहतरीन मनोरंजन मुहैया कराते हैं हम उनसे कोई वास्ता नहीं रखना चाहते।

– सर्वपल्ली राधाकृष्णन (*फ़िल्मइंडिया,* 1942)

फ़िल्म से जुड़ी पत्रकारिता के बिना 'फ़िल्म-अध्ययन' तो क्या, फ़िल्म व्यवसाय ही असम्भव होता। इस दृष्टि से दोनों का उद्‌भव भारत सहित पूरी दुनिया में अमूमन एक साथ हुआ होगा, यह मानना तो लाज़िमी है। लेकिन रिवायत है कि भारतीय फ़िल्मों का इतिहास हम फाल्के साहब की *राजा हरिश्चंद्र* (1913) से शुरू करते हैं, और 'फ़िल्म पत्रकारिता' का आग़ाज़ पहली फ़िल्म-केंद्रित पत्रिका गुजराती *मौज मजा* (1924) से मानते हैं। नामकरण की इस प्रवृत्ति में गुज़रे वक़्त के विस्तार के अलावा मीडिया-स्वामित्व का असर ज़रूर रहा होगा, क्योंकि पत्रकारिता का ज़्यादातर इतिहास प्रिंट-केंद्रित ग़ैर-सरकारी उद्यमों का है। दूसरे, हमारे यहाँ रेडियो या दूरदर्शन में काम करने वालों को पत्रकार न मान कर प्रसारक, निर्माता, प्रस्तोता, संवाददाता आदि पदेन-सम्बोधनों से नवाज़ने की परम्परा रही है। उपग्रह टीवी के आने के बाद निजी ख़बरिया चैनलों ने अवश्य पत्रकारिता के पारम्परिक गढ़ में सेंधमारी करके टीवी पत्रकारिता के लिए जगह बनाई है। यह भी विचारणीय है कि एक ऐसे देश में जहाँ सिने-सामग्री बाक़ी मीडिया को इतनी बड़ी मात्रा में सामग्री परोसती रही हो, वहाँ 'अंतर्माध्यमिकता' सैद्धांतिक नहीं बल्कि अस्तित्व का सवाल है। इसके पीछे लेन-देन का गहरा इतिहास है। बहरहाल छापे की फ़िल्म-पत्रकारिता को सिने-अध्ययन की आधारशिला और प्रस्थान-बिंदु मानते हुए यह आलेख पिछली सदी के चौथे दशक की सबसे धारदार हिंदी साप्ताहिक फ़िल्म-पत्रिका *चित्रपट* (1933-34) की गिनती की उपलब्ध फ़ाइलों को धुरी बनाकर उसके रचनात्मक अवदान, सरोकारों, इसरारों और विशेषताओं की पड़ताल करता है, हालाँकि सबसे पुरानी पत्रिका तो *रंगभूमि* ही है।[1]

सिनेमा का यह 'अंतर्माध्यमिक' इतिहास— मार्शल मैक्लुहन की इस बुनियादी अवधारणा से प्रेरित है कि एक मीडिया, मसलन सिनेमा, ख़ुद को दीगर जनसंचार-माध्यमों (प्रिंट, रेडियो, ग्रामोफ़ोन, कैसेट, टेलिविज़न और अब इंटरनेट) के ज़रिये विस्तार देता आया है— एक दिलचस्प संक्रमण-काल में जाकर कुछ ज़रूरी पुरानी कड़ियों को जोड़ने की कोशिश करता है। पिछले तक़रीबन सौ सालों में सिनेमा-क्षेत्र में नज़र, नज़रिये और नज़ारों के धरातल पर ज़ाहिर है कि आसमान-ज़मीन का फ़र्क़ आया है। सिनेमा पहले रेडियो, फिर टेलिविज़न की मार्फ़त ड्रॉइंग रूम और अब इंटरनेट के ज़रिये मोबाइल पर हर कहीं मौजूद है। सिने-पत्रकारिता अब वैसी प्रिंट-केंद्रित क़तई नहीं रही जैसी पिछली सदी में थी, और कई फ़िल्मी पत्र-पत्रिकाओं (*माधुरी, शमा, सुषमा, पटकथा)* के बंद होने के बाद अब दैनिक और मासिक समाचार-पत्र-पत्रिकाओं में फैल गयी है, जहाँ विनोद भारद्वाज, जयप्रकाश चौकसे, राजकुमार केसवानी और अजय ब्रह्मात्मज जैसे अनुभवी स्तम्भकार ऐतिहासिक कहानियों, उल्लेखों और स्मृतियों को अधुनातन संदर्भों से यथासम्भव जोड़ते हुए नवीकृत करते रहते हैं।[2] मुमकिन है आज के पाठकों को यह इतिहास शायद उतना

---

[1] सर्वविदित है कि 'फ़िल्म अध्ययन' एक अकादमिक अनुशासन है, लेकिन दक्षिण एशिया में इसकी व्यवस्थित निर्मिति, स्वीकृति या पठन-पाठन एक हालिया विकासक्रम है. यह ज़रूर है कि फ़िल्मों और फ़िल्मकारों के बारे में सूचनात्मक से लेकर शोधपूर्ण लेख, पत्र और ग्रंथ तो न जाने कब से छप रहे हैं. फ़िल्म पत्रकारिता की एक बुनियादी कहानी के लिए देखें, बच्चन श्रीवास्तव (1976) : 312-21.

[2] शुक्र है कि समय-समय पर इनके स्तंभ किताबों की शक्ल में आते रहे हैं। देखें, विनोद भारद्वाज (2006).; राजकुमार केसवानी (2011); अजय ब्रह्मात्मज (2006).; प्रियंवद (2018) ने *चाँद* और *माधुरी* से लेकर एक चयन प्रकाशित किया है, जिसके सातवें खण्ड में कुछ लेख सिनेमा के हिस्से भी आ गये हैं.

अजनबी न लगे, क्योंकि अंग्रेज़ी राज में उपजे चंद राष्ट्रवादी विमर्शों की अनुगूँज आज़ादी के बाद की फ़िल्म-पत्रकारिता में भी थोड़े अलग सुर-ताल के साथ जब-तब सुनाई देती रही है। शायद उतनी ही ग़ौरतलब चीज़ यह है कि उस दौर की फ़िल्मों की बात करते हुए हम एक अनुपस्थित सांस्कृतिक उपादान से मुख़ातिब हैं। कारण यह कि ज़्यादातर फ़िल्मों की सेल्यूलॉयड रीलें या उनकी डिजिटल नक़लें किसी भी अभिलेखागार में मौजूद नहीं हैं। उनके ऐतिहासिक अस्तित्व की एकमात्र और वह भी मात्र-काग़ज़ी निशानी ये पत्र-पत्रिकाएँ और उनमें छपी कहानियाँ, कविताएँ, सचित्र-गीत-डायलॉग, पोस्टर, विज्ञापन या समीक्षाएँ ही हैं। इस तरह एक अनुपस्थित अभिलेखागार से इतिहास-लेखन के एवज़ी स्रोत हैं ये काग़ज़ी दस्तावेज़। लेकिन निशानदेही करने से परे, बदनाम सिने-व्यवसाय को मानवीकृत कर आम समाज में प्रतिष्ठित करने और इन दोनों संसारों के बीच पुल बनाने या फ़िल्म-अध्ययन को शैक्षणिक उपक्रम के रूप में खड़ा करने और एक नयी प्रौद्योगिकी व व्यवसाय के लिए नयी शब्दावली या विमर्श गढ़ने की फ़िल्म-पत्रकारों की रचनात्मक कोशिशों पर विद्वानों का ध्यान पिछली सदी में कम ही गया था। हाँ औत्सविक, जुबली-मौक़ों पर या ख़ुद फ़िल्मी पत्र-पत्रिकाओं में या फिर पत्रकारिता के इतिहास की किताबों में गाहे-ब-गाहे गुरु-गम्भीर नैतिकता के आडम्बर में लिपटे सर्वेक्षण-नुमा निबंध हिंदी, अंग्रेज़ी और उर्दू में छपते रहे हैं।[3]

इतिहास-लेखन

पिछली सदी में व्याप्त पारम्परिक विद्वेष की वजहों का ज़िक्र रेचेल डॉयर ने अंग्रेज़ी पत्रिका *स्टारडस्ट* के अपने अध्ययन में किया है कि एक तरफ़ तो सिनेमा को ही छिछला-छिछोरा माध्यम माना गया काफ़ी समय तक, और साथ ही इन पत्रिकाओं में 'चूँकि फ़िल्मों पर सामग्री कम और ऊबी हुई सुखी गृहिणियों की दिलजोई करने के लिए सिने-सितारों से जुड़ी चटपटी चेमेगोइयाँ ज़्यादा छपती थीं, इसलिए विद्वानों ने इस 'पंक-पयोधि' से किनाराकशी कर ली'।[4] रेचेल ने न केवल इस ऐतिहासिक अभिजन-दृष्टि को चुनौती दी, बल्कि फ़िल्मी गॉसिप का भी गम्भीरतापूर्वक आकलन किया, क्योंकि बग़ैर ईर्ष्या पैदा करने वाले रसीले गप्प के सितारा-संस्कृति का रूमानी सृजन व मायावी निर्वहन भी तो मुमकिन नहीं था![5] नीपा मजुमदार ने शुरुआती तारिकाओं पर केंद्रित अपनी बेहतरीन किताब में इससे आगे जा कर कहा है कि 'गॉसिप, अफ़वाह व स्कैंडल' अथवा काण्ड दरअसल एक ही सार्वजनिक विमर्श के मुख़्तलिफ़ वज़न वाले अंदाज़-ए-बयान हैं, और वैसे तो गॉसिप या खुसुर-पुसुर का स्त्रीलिंग होना महज़ इत्तेफ़ाक़ नहीं, पर साथ ही हिंदुस्तानी फ़िल्मी पत्रकारिता में एक तरह के परहेज़, आत्मसंयम, ज़ब्त या लगाम की रिवायत[6] से इन्कार नहीं किया जा सकता; कि गॉसिप अभिधा में, खुलेआम न करके इशारों-इशारों में या किसी आलम्ब, ब्याज या छायानुवाद के सहारे किया जाता रहा है, कुछ यूँ कि उसको पढ़ने-सुनने में एक अदबी लुत्फ़ मिले।[7] हमें आगे चल कर *चित्रपट* की निहायत मर्यादित गॉसिप-प्रसारण की रणनीति पर चर्चा का मौक़ा मिलेगा।

---

[3] टी.एम. रामचंद्रन (1985); राम मुरारी (2013) : 349-54. विभास चंद्र वर्मा (2013) : 355-60.

[4] रेचेल डॉयर (2001) : 247.

[5] *फ़िल्मफ़ेयर* के सम्पादक बी.के. करंजिया ने विनोद तिवारी से कहा : '...हम किसी भी अफ़वाह को ख़बर के रूप में नहीं छापते थे, पूछताछ करके ही काम करते थे, लेकिन अगर फिल्मों में अफ़वाह न होगी तो इस दुनिया में रंगीनी कैसे आएगी, इसलिए फिल्म गॉसिप भी जरूरी है.' देखें, विनोद तिवारी (2007) : 75.

[6] बक़ौल अरविंद कुमार, उनका विश्वास पत्रकारिता में था, न कि अफ़वाहकारिता में, देखें, विनोद तिवारी (2007) : 74. पत्रकार से फ़िल्मकार बने अविनाश दास ने *तद्भव* के सद्य: प्रकाशित मीडिया विशेषांक में अपनी टिप्पणी 'सुचिंतित आलोचना का सूखा कब ख़त्म होगा?' में अरविंदजी की बात की तस्दीक़ की है, 'गाशिप (!) से अलग सिनेमा की दुनिया में मानवीय तरीक़े से झाँकने की कोशिश *माधुरी* में छपे लेखों में होती थी. थोड़ी बहुत सिनेमा की सामाजिक विवेचना भी होती थी.' देखें, अविनाश दास (2020) : 306.

[7] नीपा मजुमदार (2010).

देबश्री मुखर्जी ने बाबूराव पटेल, स'आदत हसन मंटो और ख़्वाजा अहमद अब्बास आदि लेखक-पत्रकारों की अभिव्यक्तियों को मुम्बई शहर और सिनेमा के संगम पर किये गये तजुर्बों की तर्जुमानी मान कर परखा है।[8] चोखी भाषा और तीखे मुहावरे से लैस निर्भीक सिनेमा-रिपोर्टिंग और आलोचना की पुरख़तर, दीर्घ और शक्तिसंपन्न पारी खेलने वाले बाबूराव पटेल और आगे चल कर उनकी दूसरी पत्नी सुशीला रानी द्वारा सम्पादित अंग्रेज़ी मासिक *फ़िल्मइंडिया* पर अलग से एक सुदर्शन, कॉफ़ी-टेबलनुमा पुस्तक आयी है, जिसमें परिचयात्मक आलेखों के अलावा चिकने काग़ज़ पर पुनरुत्पादित बेहतरीन फ़िल्मी पोस्टर इस क़िस्म की पत्रिकाओं की साज-सज्जा या डिज़ाइन की ओर हमारा ध्यान खींचते हैं।[9] आम उपभोग की शायद ही कोई पत्रिका उन दिनों इतनी ताम-झाम से छपती थी। चौथे दशक की शुरुआत से ही पटेल ने पत्रकारिता के साथ कई फ़िल्मों का निर्माण और निर्देशन[10] भी किया, और प्रशिक्षित आकाशवाणी-गायिका सुशीला रानी ने *द्रौपदी* (1944) और *ग्वालन* (1946) जैसे घरेलू प्रोडक्शनों में नायिका की भूमिका भी की, जिसका लक़-दक़ विज्ञापन उनकी अपनी पत्रिका में भी छपा।[11] राजनीतिक लिहाज़ से दिलचस्प है कि दक्षिणपंथी पटेल बतौर सम्पादक अपने समय के दो लोकप्रिय हलक़ों— राजनीति और सिनेमा— के बीच तनी हुई रस्सी को अपनी सधी लेखनी से साधते रहे और अपने पाठकों से भी आड़े-तिरछे सवाल-जवाब के ज़रिये सीधे जुड़े रहे। राजनीति से पटेल के इस संजीदा लगाव के चलते *फ़िल्मइंडिया* को *मदरइंडिया* बनना ही था, फिर पटेल साहब को चुनाव भी लड़ना ही था, लेकिन जीवन के आख़िरी चरण में उन्होंने आध्यात्मिक लेखन ही ज़्यादा किया। प्रसंगवश ज़िक्र ज़रूरी है कि राजनीति और सिनेमा से ही उभरते जन-वादी समाज के नये सितारे पैदा हो रहे थे, बल्कि गाँधी, नेहरू, मौलाना आज़ाद और सरोजिनी नायडू जैसे नेता ई. बिल्लीमोरिया, कुंदन लाल सहगल, सुलोचना और गौहर से कहीं ज़्यादा मशहूर-ओ-मारूफ़ थे। तभी तो गाँधी का *रामराज्य* देखना इतनी ख़ास ख़बर बनता है, और उनका सिनेमा-विरोध का आम रवैया अब्बास को इतना परेशान करता है कि वे अपने प्रेरणा-पुरुष से बहस करने के लिए सार्वजनिक अखाड़े में उतर पड़ते हैं।[12]
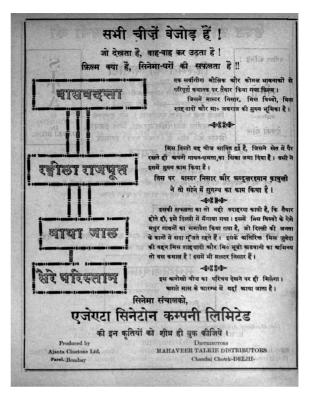
---

[8] देबश्री मुखर्जी (2013).

[9] सिद्धार्थ भाटिया (2015).

[10] पटेल की *सती महानंदा* 1933 में आयी, जिसका विज्ञापन 19 जनवरी के *चित्रपट* में आया, देखें, सिद्धार्थ भाटिया (2015) : 23.

[11] देखें, जनवरी से लेकर अक्टूबर, *फ़िल्मइंडिया,* 1944 के अंक.

[12] ख़्वाजा अहमद अब्बास (1993) : 141-45. इसके हिंदी अनुवाद (सिनेमा को आशीर्वाद दीजिए महात्मा जी) और गाँधी को लेकर बनी फ़िल्मों के लिए देखें, इक़बाल रिज़वी (2019).

सिद्धार्थ भाटिया और देबश्री मुखर्जी से पहले भी बेशक तमाम क़िस्म के फ़िल्म अध्येताओं ने नानाविध विषयों पर लिखने के लिए फ़िल्मी पत्र-पत्रिकाओं का बतौर स्रोत-सामग्री इस्तेमाल किया है और कुछ ने बख़ूबी किया है। मिसाल के तौर पर वीर भारत तलवार ने प्रेमचंद के *सेवासदन* पर इसी नाम से फ़िल्म बनने की यात्रा, उसमें *चित्रपट* नामक फ़िल्मी साप्ताहिक की भूमिका और फ़िल्म की असफलता के माध्यम से क्रूर पूँजीवादी फ़िल्मी दुनिया में बतौर साहित्यकार प्रेमचंद के हुए हताशाजनक तजुर्बे की सिलसिलेवार अक्कासी की है।[13] एक श्लाघ्य दृष्टांत इतिहासकार कौशिक भौमिक का भी है, जिनके डॉक्टरेट शोध-प्रबंध में सरकारी और पत्रकारी स्रोत की जुगलबंदी सिनेमा के आदिकाल और टॉकीज़ या बोलपट के रूप में उसके संक्रमण की कहानी को पूरे सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक व सांस्कृतिक पसमंज़र के साथ पेश करती है। पॉल विलमैन और आशीष राजाध्यक्ष के *एनसायक्लोपीडिया* में पत्र-पत्रिकाओं की एक आरम्भिक पर उपयोगी सूची है और उनका इस्तेमाल गुमनाम फ़िल्मों के बारे में जानकारी मुहैया कराने की कोशिश में भी दिखता है।[14] हाल में अनुष्टुप बसु ने एक अच्छा लेख *फ़िल्मफ़ेयर* में बंगाली सिनेमा-विषयक-लेखन और रिपोर्ताज पर लिखा है, जिसमें बंगाली सिनेमा को वैश्विक सिनेमा की कलात्मक धारा का हिंदुस्तानी प्रतिनिधि बताते हुए बम्बइया मुख्यधारा के बंगाली फ़िल्मकारों से किनाराकशी किये जाने का दिलचस्प मंज़र उभरता है।[15]

आज़ादी के बाद की फ़िल्म-पत्रकारिता पर एक पूरी विवरणात्मक किताब *माधुरी* और *प्रिया* के सम्पादक रहे विनोद तिवारी ने लिखी है, जो पत्रकारिता के इतिहास के संरक्षण का स्वघोषित प्रयास है। लेकिन विश्वविद्यालयी प्रकाशन होने के बावजूद इसमें सामग्री-केंद्रित विश्लेषण अत्यल्प है, और संदर्भों की अपूर्णता शोधार्थियों को अपने बाल नोचने पर मजबूर कर सकती है।[16] *माधुरी* के मशहूर संस्थापक-सम्पादक अरविंद कुमार के बौद्धिक तजुर्बों का बयान करते निबंधों के संकलन, *शब्दवेध*, में माधुरी-काल के उनके बेहद ज़रूरी संस्मरण हैं, और उन्हीं के दौर की *माधुरी* पर एक स्रोत-चिंतननुमा लेख भी है, जिससे कहीं-कहीं असहमति होने के बावजूद और जिरह करते हुए उन्होंने किताब में जगह देने की उदारता दिखाई है।[17] इस लेख से कम-से-कम यह तो पता चलता ही है कि कितने तरह के इतिहास कच्चे माल की सूरत में *माधुरी* —जैसी फ़िल्मी पत्रिकाओं के पन्नों में ऊँघ रहे हैं।[18] मिसाल के तौर पर इसी *माधुरी* में छपी गीतों की स्वरलिपियों की जड़ें दरअसल तीसरे दशक की *चाँद*, *माधुरी* और *चित्रपट* जैसी पत्रिकाओं तक जाती हैं, एक ऐसी रिवायत जिसे *संगीत* नामक पत्र ने चौथे दशक की संगीत-शिक्षा की किताबों के प्रकाशन से लेकर अब तक अविच्छिन्न रखा है।[19] पर काका हाथरसी के पूर्वजों द्वारा स्थापित और उत्तर भारत में शास्त्रीय और सुगम संगीत के पठन-पाठन की सामग्री की लगातार आपूर्ति करने वाले इस प्रकाशन-गृह ने न सिर्फ़ फ़िल्मी गीतों के असंख्य विशेषांक निकाले बल्कि कुछ समय तक *फ़िल्म संगीत* नामक एक पत्र भी निकाला जिसके पन्नों में शास्त्रीय और सिनेमाई का मणिकांचन संयोग हुआ। ग्रामोफ़ोन रिकॉर्डों के वैज्ञापनिक स्रोतों

---

[13] वीर भारत तलवार (1994) : 178-210.

[14] आशीष राजाध्यक्ष और पॉल विलमैन (1999).

[15] अनुष्टुप बसु (2018) *: DOI :* 10.1080/19472498.2018.1446794. *फ़िल्मफ़ेयर* की भगिनी-पत्रिका *माधुरी* का भी हार्दिक झुकाव कलात्मक धारा की ओर ही था, लेकिन उसकी भाषा-भक्ति कहीं ज़्यादा प्रबल थी.

[16] विनोद तिवारी (2007).

[17] अरविंद कुमार (2016). यह भी देखें, रविकान्त (2016).

[18] पत्र-पत्रिकाओं की इन क़तरनों का मोल दुनिया-भर में फैले संग्रहकर्ता जानते हैं. एक ऑनलाइन संग्रह देखें : http://hindi-movies-songs.com/joomla/inde&.php/hindi-films/magazines-newspapers.

[19] संगीत-श्रवण की लोकप्रिय संस्कृति का अभिनव इतिहास लिखने वाली विभूति दुग्गल (2015) ने हाल में स्वरलिपियों पर लिखा है, जबकि नरेश कुमार (2019) ने संगीत कार्यालय का इतिहास लिखने की शुरुआत की है.

के आधार पर स्टीव ह्यूज़ ने आज़ादी के पहले के दक्षिण भारत के शास्त्रीय, सुगम और फ़िल्मी संगीत का निहायत मानीख़ेज़ सामाजिक इतिहास लिखा है।[20]

गीतों की बात करें तो हिंदी सिनेमा के इतिहासकारों ने ग़ैर-फ़िल्मी पत्रिकाओं में वक़्तन-फ़वक़्तन निकलने वाले फ़िल्म-विशेषांकों का भी अच्छा इस्तेमाल किया है, और ऐसे आरंभिक लेकिन ठोस प्रयास के रूप में सातवें दशक में आगरा से छपे हिंदी चित्रपट संगीत के इतिहास का नाम लिया ही जाना चाहिए।[21]

हिंदी फ़िल्म पत्रकारिता

इतिहास-लेखन की उपरोक्त बानगी से फ़िल्मी पत्र-पत्रिकाओं में छपी सामग्री से किस क़िस्म के इतिहास अब तक लिखे गये हैं, इसका थोड़ा अंदाज़ा मिल गया होगा। जहाँ तक वैचारिकी का सवाल है, पहली नज़र में *चित्रपट* के ज़माने से लेकर *माधुरी* तक एक विलक्षण निरंतरता सम्पादकीय एजेंडे की अभिव्यक्तियों में नज़र आती है। याद करें कि अरविंद कुमार ने *माधुरी* के तीसरे साल में प्रवेश करने पर सम्पादकीय में लिखा था, 'हिंदी में सिनेपत्रकारिता सभ्य, सम्भ्रांत और सुशिक्षित परिवारों द्वारा उपेक्षित रही है। सिनेमा को ही अभी तक हमारे परिवारों ने पूरी तरह स्वीकार नहीं किया है। फ़िल्में देखना बड़े-बूढ़े उच्छृंखलता की निशानी मानते हैं। कुछ फ़िल्मकारों ने अपनी फ़िल्मों के सस्तेपन से इस धारणा की पुष्टि की है। ऐसी हालत में फ़िल्म पत्रिका का परिवारों में स्वागत होना कठिन ही था।'[22] 1983 में भारतीय सिनेमा के 70 साल पूरे होने पर 1937 से फ़िल्म पत्रकारिता करने वाले टी.एम. रामचंद्रन ने लिखा, 'शुरुआती दौर में फ़िल्मों और फ़िल्मी पत्रकारों को अछूत समझा जाता था। आज भी उनके साथ कोढ़ियों-सा बर्ताव किया जाता है, जिसके लिए वे ख़ुद ज़िम्मेदार हैं।'[23] रामचंद्रन का नतीजा है कि फ़िल्मकारों, सम्पादकों और कुपात्र पत्रकारों में, यानि चतुर्दिक पेशेवराना रियाज़ की घनघोर कमी के चलते फ़िल्म पत्रकारिता में पर्याप्त गहराई या वज़न नहीं पैदा हो पाया कि उसे संजीदा विधा माना जा सके।
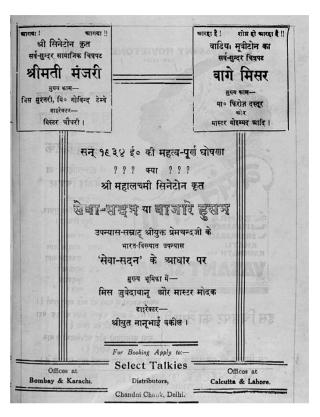
इतिहासकार के नज़रिये से देखने पर साफ़ हो जाता है कि बार-बार दुहराए जा रहे इन शाश्वत मूल्य-निर्णयों में पसरी निरंतरता महज़ सतही है, क्योंकि *चित्रपट* से चलकर *माधुरी* तक तो सिनेमा दिखाने व देखने वालों के रवैये और सिने-पत्रकारिता के रियाज़ में आमूल परिवर्तन आ चुका था।

---

[20] स्टीफ़न पटनम ह्यूज़ (2007) : 3-34.

[21] ओंकारप्रसाद माहेश्वरी (1978).

[22] 'आत्मनिवेदन', *माधुरी,* 11 फ़रवरी, 1966.

[23] टी. एम. रामचंद्रन (1985) : 310.

मिसाल के तौर पर, सिनेमा में सुधार की बात तो दोनों ही पत्रिकाएँ कर रही हैं, लेकिन दोनों में सुधार की परिभाषा, एजेंडा और रास्ता एक बिंदु के बाद अलहदा हो जाते हैं, वैसे ही जैसे कि छोटे-छोटे शहरों तक जनसांख्यिकीय विस्तार पाते मध्यवर्गीय पाठकवर्ग के हस्तक्षेप को लेकर किये जा रहे आह्वान में गुणात्मक अंतर भी आ जाता है— *चित्रपट* में नाक़ाबिले-बर्दाश्त फ़िल्मों के ख़िलाफ़ आवाज़ उठाने वाली जनता एकाध अवसर को छोड़कर एक वांछित और काल्पनिक ईकाई है, जिन्हें जगाने की चेष्टा सम्पादकगण कर रहे हैं, जबकि चौथे-पाँचवें दशक तक आते-आते हर पखवाड़े न केवल *शमा* और *रंगभूमि* में उनकी चिट्ठियाँ छप रही हैं और सातवें दशक की *माधुरी के* पन्नों में वे निरे फ़ैन से लेकर भाषाई पहरेदारी और बतौर दर्शक अपने हक़ के लिए आवाज़ उठाने के लिए भाँति-भाँति के बैनरों तले संगठित भी हो रहे हैं।

द्विभाषी इतिहासकार ललित जोशी ने आज़ादी के पहले की हिंदी पत्र-पत्रिकाओं, ख़ास तौर पर *माधुरी* (1920-50), *चाँद* (1923 में स्थापित) और *सुधा* (1927 से) में छपी सिनेमा-विषयक सामग्री का विश्लेषणात्मक आकलन किया है, जिसमें सिनेमा को लेकर मची राष्ट्रवादी ऊहापोह, अच्छी फ़िल्मों की नैतिकता, उसकी भाषा को लेकर असंतोष की अभिव्यक्ति, सिने-संसार में भले घर की महिलाओं के प्रवेश को लेकर विवाद के साथ-साथ सिने-आलोचना के विकासमान शिल्प और तकनीकी नवाचारों से दो-चार होने की कोशिशों का जायज़ा लिया है। बतौर निष्कर्ष वे कहते हैं :

> तीसरे दशक से राष्ट्रीय आंदोलन के जनांदोलन बनने के बाद हिंदी पत्र-पत्रिकाओं में असाधारण विकास होता है, जिसके चलते साहित्यकारों को उस समय के बहस-मुबाहिसों में हस्तक्षेप करने का माक़ूल माहौल मिलता है। कुछ बहसें तो हिंदी के बौद्धिक जनपद में ही पैदा हुईं जिनमें लेखकों ने निर्माणाधीन राष्ट्रीय संस्कृति में बतौर उस्ताद मध्यस्थता करने की कोशिश की। इसी चेष्टा के तहत उन्होंने सोचा कि वे सिनेमा को आलोचनात्मक विश्लेषण और संजीदा विमर्श का विषय बनाने में कामयाब होंगे। इस तरह भारतीय सिनेमा और उसकी क़िस्सागोई, छाया-चित्रण, नैतिकता, सौंदर्यशास्त्र और उपयोगिता गहन साहित्यिक ख़यालगोई के विषय बने। यह उस राष्ट्रवादी विमर्श से कितना मुख़्तलिफ़ था जिसने या तो सिनेमा को नज़रअंदाज़ किया था या उसे राष्ट्रवादी प्रचार का औज़ार-मात्र माना था, लेकिन इसको लेकर किसी सैद्धांतिक बहस में उलझने की ज़हमत नहीं उठाई थी।[24]

सामान्य रुचि की राजनीतिक-साहित्यिक पत्रकारिता, जिसे हैबरमास की तर्ज़ पर 'हिंदी लोकवृत्त' की संज्ञा दी गयी है, उसके इतिहास पर तो अंग्रेज़ी और हिंदी में— कच्ची और प्रसंस्कृत, व्यक्ति व संस्था-केंद्रित— दोनों तरह की प्रचुर सामग्री उपलब्ध है।[25] वैसे राष्ट्रवादी विमर्श से यहाँ ललित जोशी की मुराद राजनीतिक नेताओं के रुख़ से है, लेकिन हम आगे देखेंगे कि हिंदी बौद्धिक जनपद ख़ुद अपनी विरासत से उलझा हुआ था और सिनेमा में आगे की राह अपने ही आज़मूदा नक़्शों में तलाश रहा था। अब एक और निष्कर्ष पर ध्यान दें :

> फ़िल्म उद्योग में हिंदुस्तानी के जारी प्रयोग को 'हिंदी' आंदोलन की उपलब्धियों पर कुठाराघात समझा जा रहा था। लेखकों को इसका मलाल था कि भारतीय फ़िल्में पाश्चात्य फ़िल्मों से तकनीकी और सौंदर्यशास्त्रीय स्तरों पर हीन ठहरती थीं, लेकिन इन्हीं से विदेशी संस्कृति के प्रचार-प्रसार की उनकी कोशिशों को चुनौती देने की उम्मीद भी की जा सकती थी। हिंदुस्तान में अच्छी (शिक्षाप्रद) फ़िल्में बननी हैं तो इस माध्यम के प्रति आलोचनात्मक रवैया विकसित करके लोगों को पारखी बनाने की ज़रूरत होगी। उद्योग में महिलाओं के प्रवेश का नाज़ुक सवाल बहुतों को उद्वेलित कर रहा था... इस चेतावनी के साथ *लगातार लेख पर लेख लिखे जा रहे थे कि 'सिनेमा-लाइन' में*

---

[24] ललित जोशी (2009) : 44-45. अंग्रेज़ी से अनुवाद मेरा.

[25] वसुधा डालमिया (1997); फ्रंचेस्का ओर्सीनी (2003) तथा (2009); अविनाश कुमार (2002); शंभुनाथ व रामनिवास द्विवेदी (2012); चारु गुप्ता (2001).

करियर तलाशना ख़ुद के लिए विनाश को न्यौता देना है। कुल मिलाकर लेखन का यह ज़ख़ीरा सिनेमा-इतिहास के आदिकाल को राष्ट्रीय आंदोलन के क्लाइमैक्स वाले दशकों के संदर्भ में रखकर फिर से विचारने की विपुल सामग्री प्रदान करता है। (*ज़ोर हमारा*)

एक बार फिर ललित जोशी के ज़्यादातर नतीजे मोटे तौर पर सही हैं, लेकिन अगर हम तफ़सील में उतरेंगे तो पाएँगे कि, मिसाल के तौर पर, सिनेमा में महिलाओं के प्रवेश पर तमाम लेखक-सम्पादकों का आग्रह इतना कठोर या यकसाँ नहीं था, बल्कि वे इस मसले को लेकर काफ़ी बारीक बुनाई कर रहे थे। हमारी कोशिश होगी कि हम ललित जोशी के कैमरे में ज़ूम लेंस लगाकर इस बारीक कताई और बुनाई में अदृश्य रह गये ताने-बाने को उजागर करें।

महज़ संयोग नहीं कि वाचाल होने के साथ भारतीय सिनेमा अप्रत्याशित लोकप्रियता हासिल करता है और उसकी भाषाई पहचान भी बनती है, हालाँकि महाराष्ट्र में मराठी-हिंदी (और कभी-कभार तमिल-तेलुगु) और बंगाल में बंगाली-हिंदी के दुभाषी युग्म में फ़िल्में बनने का सिलसिला भी दस-पंद्रह सालों तक चला। भाषाई दक्षता से महरूम कुछ अभिनेता-अभिनेत्री नेपथ्य में चले गये और चार्ली चैपलिन के ढेर-सारे प्रशंसक आलोचकों ने बोलती फ़िल्मों को स्वीकार नहीं किया, लेकिन घड़ी की सुई उलटी दिशा में मोड़ी नहीं जा सकती थी। आवाज़, तलफ़्फ़ुज़ और संगीत की सार्थकता, और भारतीयता की कसौटियाँ लेकर फ़िल्म-समीक्षा का एक नया अनुभाग खुल रहा था। ख़ामोश फ़िल्मों के इंटरटायटिल यानि पर्दे पर छपे शब्दों और पिट से आते गीत-संगीत या पार्श्व से लाइव प्रसारित 'आँखों देखा हाल' से सिनेमा की असंपृक्ति होती है, फिर श्रव्यरूप में भाषा के साथ समेकित सर्वांग-संपृक्ति होती है, कहें कि दोनों के बीच गहनतर रिश्ता बनने लगता है। यद्यपि हम देखेंगे कि 'बोलते-नाचते-गाते' खेलों की उत्तेजना पूरी तरह ख़त्म नहीं हुई है, और न ही पारम्परिक मुजरा-नाच के अतिरिक्त आकर्षण को घुसा देने के लोभ का संवरण सारे प्रदर्शक कर पाए थे।

ऐसे हालात में व्यावसायिक बाक़ायदगी के साथ *रंगभूमि* की शक्ल में हिंदी में फ़िल्म पत्रकारिता की शुरुआत (1932) दिल्ली से होती है। लेकिन इसकी छिटपुट आहट रामरखसिंह सहगल और मुंशी नवजादिक लाल श्रीवास्तव के सम्पादन में इलाहाबाद से निकलने वाले *चाँद* के 'नाटक तथा रंगमंच' नामक नियमित स्तम्भ में सुनाई देने लगी थी, जिसके लेखक *चित्रपट* सहित दीगर पत्रिकाओं में भी फ़िल्म-विषयक लेख लिख रहे थे। इनमें से सबसे नियमित लिखने वाले, असहयोग आंदोलन में जेलयाफ़्ता, एडिनबरा-पलट लेखक, डॉक्टर धनीराम 'प्रेम', दरअसल थोड़े समय के लिए *चाँद* और *भविष्य* के सम्पादक भी बनते हैं, फिर मुम्बई आकर अपना दवाख़ाना खोलते हैं, लेकिन साहित्य, सिने-लेखन और सिने-पत्रकारिता से उनका

जुड़ाव बना रहता है।[26] डॉ. 'प्रेम' ने रणजीत मूवीटोन के लिए एक ही साल 1932 में जयंत देसाई निर्देशित *दो बदमाश, भूतिया महल (Haunted House), चार चक्रम (चाण्डाल चौकड़ी / चार भोंदू / Four Rascals)* और अगले ही साल *भूल भुलैयाँ (Comedy of Errors), भोला शिकार (Easy Victim)* तथा नंदलाल जसवंत लाल के निर्देशन में बनी *परदेसी प्रीतम (Street Angels)* की कहानी और गीतों का लेखन किया।[27] *दो बदमाश* उनके नाटक *प्राणेश्वरी* पर आधारित फ़िल्म थी, जिसका विज्ञापन *चाँद* में छपा, जबकि 'मिस माधुरी के पहले सवाक चित्रपट *परदेशी प्रीतम* की कहानी' धनीराम 'प्रेम' की अपनी लेखनी से ही *चाँद* ही में आयी।[28] यानि एक निरंतरता बनती है एक ही रचनात्मक व्यक्तित्व की तीन अलग-अलग — गल्प-लेखक-सिनेमा-विशेषज्ञ-और सिने-लेखक — भूमिकाओं में और बतौर 'विशेषज्ञ' वह पत्र-पत्रिकाओं में लिखे अपने लेखों में लगे हाथ अपनी ही फ़िल्मों का उदाहरण दे कर उनका विज्ञापन भी तो कर ही सकता था। उसकी यह प्रचारक-भूमिका वैसे भी चौपतिया प्रचार-पुस्तिकाओं में असंदिग्ध तौर पर उभर के आती है, जिसकी आलोचना उसी ज़माने में सतीशचंद्र सिंह :

> हमारे यहाँ की फ़िल्म कम्पनियाँ इस बात की परवाह नहीं करतीं कि उनके फ़िल्मों की कैसी समालोचना हो रही है। विदेशों में समालोचक...जिस फ़िल्म को बुरा कह दें, उसकी असफलता में तनिक भी संदेह नहीं...भारत में यह बात नहीं। एक कारण इसका यह भी है कि फ़िल्मों की सच्ची समालोचना होती भी नहीं। चूँकि समाचार-पत्रों में सिनेमाओं के विज्ञापन छपते हैं, अतः समाचार-पत्र वाले उन सिनेमाओं में आने वाले प्रत्येक फ़िल्म की प्रशंसा के पुल बाँध देते हैं, चाहे वह फ़िल्म कौड़ी काम का न हो।[29]

और आगे चलकर फ़ज़लभॉय-जैसे वितरक-निर्देशक-टिप्पणीकार ने व्यवसाय में पनपे 'हितों के टकराव' की मिसाल के रूप में की थी[30] और फ़िल्म जाँच समिति ने भी फ़िल्मी पत्रिकाओं के ग़ैर-पेशेवराना रंग-ढंग की आलोचना की थी।[31]

'प्रेम' और *चाँद के* सिनेमा-प्रेम के नारीवादी आयाम भी अहम थे। हिंदी प्रिंट जनपद के अपने विस्तृत अध्ययन में फ्रंचेस्का ओर्सीनी ने पत्रिका के इस दौर की परिवर्तनकारी भूमिका को रेखांकित करते हुए कहा है कि इसने 'स्त्री-उपयोगी साहित्य' की संकीर्ण पुरुषसत्तात्मक रिवायत को नयी स्त्री के लिए बेहतर समाज की परिकल्पना में बदला। *चाँद* में पुरुषों से कंधा से कंधा मिला कर प्रगति करती दुनिया-भर की महिलाओं के व्यक्तित्व और कृतित्व के सचित्र बखानों के साथ *भविष्य* में राष्ट्रीय आंदोलन में सत्याग्रह करने और जेल जाने वाली नेत्रियों के दुस्साहसी कारनामों और गर्वोन्नत तस्वीरों को देखने पर हमें बदलाव की चाहत का अंदाज़ा मिलने लगता है।[32] ग़ौरतलब है कि *चाँद* ने अपने सिनेमाई स्तम्भ के अलावा देशी-विदेशी हीरोइनों के आकर्षक पोस्टरों और जीवन-परिचय को बाइज़्ज़त प्रकाशित करके हिंदुस्तानी महिलाओं को अपनी पारिवारिक लक्ष्मण-रेखाओं को लाँघकर नये तरह के कर्म-क्षेत्र के चुनाव के लिए प्रेरित किया।[33]

---

[26] धनीराम 'प्रेम' (1904-74) की संक्षिप्त जीवनी के लिए देखें, फ्रंचेस्का ओर्सीनी (2003) : 419. और *चित्रपट,* नववर्षांक 1934 : 134. *दो बदमाश* नामक फ़िल्म उनके नाटक *प्राणेश्वरी* पर आधारित थी, जिसका विज्ञापन *चाँद* (मार्च, 1933 : 575) में छपा. 'मिस माधुरी *के* पहले सवाक चित्रपट *परदेशी प्रीतम*' की कहानी' धनीराम प्रेम की अपनी लेखनी से ही *चाँद* में आयी : देखें 'फ़िल्मों की कहानियाँ', मार्च, 1933 : 544-48.

[27] हरमन्दिर सिंह 'हमराज़' (1981) : खण्ड-1. 22, 24, 27, 67, 68, 91.

[28] *चाँद* : मार्च, 1933 : 575; *चाँद,* 'फ़िल्मों की कहानियाँ', मार्च, 1933 : 544-48. 'प्रेम' ने इसी साल आई *इंदिरा एम.ए* और *अलादीन—II* और *अपराधी* के कुछ गीत भी लिखे : *हिंदी फ़िल्म गीत कोश* : 136, 186-7.

[29] 'फ़िल्म कम्पनियाँ और प्रेस' *चाँद,* जनवरी, 1932 : 424-425.

[30] *चाँद,* जनवरी, 1932 : 424-25; वाय.ए. फ़ज़लभॉय (1939), *इंडियन फ़िल्म : अ रिव्यू,* बॉम्बे रेडियो प्रेस, बम्बई : 91.

[31] भारत सरकार, *फ़िल्म एन्क्वायरी कमिटी रिपोर्ट,* गवर्नमेंट ऑफ़ इंडिया प्रेस, नयी दिल्ली, 1951 : 174.

[32] भविष्य की कुछ फाइलें यहाँ उपलब्ध हैं : https://archive.org/details/BhavishyaYear1Issue21930RamRakhaSinghSehgal.

[33] मसलन, हीरोइन की तस्वीर के नीचे 'सुप्रसिद्ध सिनेमा-स्टार मिस ज़ुबैदा, जिन्होंने इम्पीरियल कम्पनी की 'आलम आरा' और तथा सागर कम्पनी की 'सुभद्रा हरण' और 'मीराबाई' आदि खेलों में काम करके अच्छा नाम कमाया है' शीर्षक दिया गया. फ़रवरी, 1933 : 479. वहीं फ़िल्म डाइरेक्टर भवनानी और उनकी हीरोइन धर्मपत्नी इनाक्षी रामाराव के अलावा दो और निर्देशकों की तस्वीर भी छपी, साथ में मास्टर मोदक की अभिनय-कला की प्रशंसा. 'सुप्रसिद्ध अमेरिकन स्टार— मिस लौरेट्टा यंग' का पोस्टर अप्रैल, 1933 में छपा.

चाँद की चर्चा के ज़रिये मैं उस बृहत्तर पर्यावरण की ओर इशारा कर रहा हूँ जहाँ सिनेमा को संजीदगी से लेने की ज़रूरत कई लेखक-सम्पादक लगभग एक-साथ महसूस कर रहे थे, जहाँ से सिनेमा पर लिखने वालों की एक अच्छी-ख़ासी पौध न सिर्फ़ निकल रही थी, बल्कि सिनेमा देखने और परखने के अपने अंतर्राष्ट्रीय अनुभवों को यह बहुभाषी पौध एक साथ हिंदी-जगत और फ़िल्म-जगत से साझा कर रही थी। इस तर्जुमानी ने एक तरफ़ सिनेमा जैसे तकनीक-संकुल, आयातित और अंग्रेज़ माध्यम को स्थानीय भाषा व शब्दावली दी तो दूसरी तरफ़ भारतीय सिनेमा पर चल रहे 'स्वदेशी' विवाद को एक व्यापक परिप्रेक्ष्य दिया, जिससे स्थानीय पूर्वग्रहों से लड़ने के साथ-साथ उन्हें एक 'सार्थक' दिशा देने में फ़िल्मकारों को बेशक मदद मिली होगी।

सम्पादकीय वैचारिकी

क्या थे ये पूर्वग्रह? *चित्रपट* के 'सम्पादकीय विचार' पढ़ने पर उस कशमकश का अहसास हो जाता है जिससे सम्पादक गुज़र रहे थे। फ़िल्मों की तादाद और सिनेमा कम्पनियों की तेज़ रफ़्तार बढ़त से बाज़ार में ऐसी पत्रिकाओं के लिए भी जगह बन रही थी जो सिनेमा की चौंकाने वाली चलचैत्रिक गति, आवाज़ के जादू, मारधाड़ और दौड़ की लोमहर्षकता, इंद्रियोत्तेजकता, उसके मायावी सितारों के रहस्यमयी गुणों और आने वाले तमाशों के बारे में सूचना, विज्ञापन और विश्लेषण पाठकों को मुहैया करा सकें। हम जानते हैं कि शहरी जनमनरंजन का बड़ा बोझ अब तक पारसी नाटक उठाते आ रहे थे, और सिनेमा उसका उत्तराधिकारी था, क्योंकि वहीं से अभिनेता-अभिनेत्री, किरदार, कथानक, दिग्दर्शक, पोशाक और सेट के डिज़ाइन और अभिनय— संगीत-नृत्य और संवाद-अदायगी के अंदाज़ और शिल्प आ रहे थे। सिनेमा में काम करने वाले शरीफ़ घरों के होते नहीं थे, क्योंकि यह शराफ़त का काम ही नहीं माना जाता था। हम यह भी जानते हैं कि व्यावसायिक पारसी थिएटर से पहले से ही हिंदी जगत की ठनी हुई थी और कम-से-कम नारायण प्रसाद 'बेताब' और राधेश्याम कथावाचक की आत्मकथाओं के ज़रिये हम उस तनातनी का निदर्शन कर पाते हैं।[34] क़िस्सा कोताह ये कि 'बेताब' ने उस इलाक़े में 'हिंदी' को प्रवेश दिलाने के लिए शाबाशी चाही थी, तो कथावाचक अपनी धर्मध्वजा के साये में हो रहे पौराणिक नाटकों में नारी-पात्रों के प्रवेश-निषेध पर अड़े हुए थे, जबकि आग़ा हश्र कश्मीरी को ऐसी कोई हिचक-झिझक नहीं थी। चूँकि शुद्ध हिंदी के प्रिंट-लोकवासी अग्रणी साहित्यकार मंच्य नाटक नहीं लिख पा रहे थे, तो पारसी रंगमंच वाली बस उनसे लगभग छूट ही गयी थी।[35] ऐसे में बोलपट या टॉकी की लोकप्रियता ने हिंदी-साहित्य-जगत के वैचारिक हिरावल दस्ते को एक और झटके के साथ दोराहे पर ला पटका, क्योंकि वे उसमें 'पतनशील' और 'पश्चगामी' पारसी नाट्य-संस्कृति का ही विस्तार देखते थे, जिसमें एक तरफ़ उर्दू या हिंदुस्तानी का बोलबाला था तो दूसरी तरफ़ अवांछित 'शृंगारिक' कथानकों या दृश्यों की भरमार थी। लेकिन चूँकि वे अपनी पुरानी ग़लती दुहराना नहीं चाहते थे, इसलिए उन्होंने सिनेमा का स्वागत करने और उसे अपनी शर्तों पर अपनाने का निर्णय लिया था। इसके लिए सबसे पहले तो 'सुसंस्कृत' हिंदी पाठकों को ही अपने पाले में लाना आवश्यक था। साहित्यिक *माधुरी* में छपे लेख का निर्णय साफ़ था, 'मेरी सम्मति में तो सिनेमा लाभदायक है, और सोलह आने नहीं बल्कि सवा सोलह आने। जब तक लोभ कम न होगा, दूसरे की भलाई होना कठिन है।'[36] दो साल बाद, *रंगभूमि* ने अपने प्रकाशन के पहले ही साल 'सिनेमा और

---

[34] नारायण प्रसाद 'बेताब' (2002); पण्डित राधेश्याम कथावाचक (2004); कैथरीन हैन्सन (2003) : 381-405.

[35] नाटकों के दस्तावेज़ों के लिए देखें, महेश आनंद (2007) : 148-54.

[36] दादू दयाल मेहरोत्रा, 'सिनेमा', *माधुरी*, वर्ष 8, खण्ड 1, संख्या 4, नवम्बर, 1929 : 757-60. दिलचस्प है कि मुख्यधारा की साहित्यिक पत्रिका *माधुरी* में 'कृषि, शिल्प और व्यवसाय' नामक स्तंभ के अंदर यह लेख छपा था.

नाटक के विरोधियों से' दो-टूक शब्दों में कह दिया था :

> पारसी थियेट्रीकल कम्पनी तथा फ़िल्म कम्पनियों के खेलों के कारण जनता को सिनेमा तथा नाटकों से कुछ घृणा सी हो गयी है। और यही कारण है कि वृद्ध जन लड़कों को सिनेमा जाने से रोकते हैं। मास्टर लोग बचपन से ही विद्यार्थियों में घृणा भाव उत्पन्न कर देते हैं। *उनकी दृष्टि में नाटक और चित्रपट की उतनी ही उपयोगिता है जितनी एक वेश्या के गाने की*... इन सब का परिणाम यही हुआ कि सज्जनों ने सिनेमा नाटकादि में जाना ही छोड़ दिया और न जाने का प्रचारारम्भ कर दिया। यदि अब कोई सिनेमा नाटक आदि देखने जाए तो उस की गिनती दुश्चरित्रों में की जाती है ... किंतु नाटकों और फ़िल्मों के प्रति इस तरह की सभ्य और सुशिक्षित जनों की उपेक्षा बहुत हानिकारक सिद्ध हुई ... नाटक और सिनेमा से जो लाभ उठाना चाहिए था, वह नहीं हुआ... सभ्य जनों को चाहिए था कि वह इन कम्पनियों का विरोध करते ताकि वह जनता के लिये सुरुचि पूर्ण सामाजिक *चित्रपट* निकालें ... मदन आदि कम्पनियों के खेलों के विरुद्ध जनता में आंदोलन करें।
>
> कुछ दिन पहले हमारे हिंदी साहित्य की भी ऐसी ही दशा थी। उपन्यास पढ़ना बहुत बुरा समझा जाता था। कविता गाने आदि भी हेय दृष्टि से देखे जाते थे। किंतु जब जनता ने इसे अपनाया, सुशिक्षित सभ्यों ने इस ओर ध्यान दिया तो वर्तमान साहित्य की सृष्टि हुई ... जिस तरह साहित्य पर किसी देश की उन्नति उसी भाँति नाटक और सिनेमा पर भी किसी देश के आचार-विचार तथा संस्कृति सभ्यता आदि निर्भर हैं।[37]

इस बेलौस सम्पादकीय में सम्पादक-द्वय लेखराम और नौतमचंद्र ने अतीत के रवैये की आलोचना करने के बाद भविष्य की बुनियादी कार्यसूची और उसे लागू करने की कार्यविधि भी थमा दी थी, जिसमें आगे चलकर अपेक्षित परिवर्धन और संशोधन का काम *चित्रपट* ने बख़ूबी किया। इतिहास बताता है कि सिनेमा में विजय-पताका फहराने की हिंदी-प्रेमियों या कार्यकर्ताओं की लालसा कई दशकों तक संतोषप्रद ढंग से फलीभूत नहीं होती है, लेकिन *चित्रपट* के पन्नों में सिनेमा में कलात्मक स्वदेशी-सुधार के लिए हुए इन वैचारिक संघर्षों की बानगी तो अवश्य मिलती है।

सम्पादकीय वैचारिकी पर आगे विचार करने से पहले *चित्रपट* के सम्पादकों और चंद लेखकों से मिल लेना ज़रूरी है। प्रधान सम्पादक ऋषभचरण जैन प्रेमचंद-युग के एक जाने-माने गल्प-लेखक, रूसी और अंग्रेज़ी साहित्य के घनघोर हिंदी अनुवादक और अग्रणी प्रकाशक यूँ थे कि दिल्ली के पहले प्रकाशन-गृह 'हिंदी पुस्तक कार्यालय' की स्थापना उन्होंने की, जो *चित्रपट* के दौर में साहित्य मण्डल के नाम से काफ़ी प्रसार पाता है। जैन साहब ने ख़ुद फ़िल्म-वितरण का कामकाज भी सँभाला, लेकिन *पराया धन* (1943) के फ़्लॉप होने और विभाजन के बाद उनका व्यवसाय डूब गया।[38] बतौर कहानीकार उनकी ख्याति दिल्ली की भाषा पर उनकी पकड़ से बनी थी, और बतौर प्रकाशक-सम्पादक उन्होंने जैनेंद्र कुमार, चतुरसेन शास्त्री, यशपाल और हंसकुमार तिवारी जैसे लेखकों और सियारामशरण गुप्त, द्विजेंद्र नाथ मिश्र 'निर्गुण' जैसे कवियों से लिखवाया। प्रेमचंद से उनकी निकटता थी और बक़ौल वीर भारत तलवार '*सेवासदन* का फ़िल्म बनना हिंदी प्रदेश में बम्बई की बाज़ारू संस्कृति के ख़िलाफ़ उभरे राष्ट्रीय सांस्कृतिक आंदोलन का नतीजा था ... और *चित्रपट* इस आंदोलन का एक महत्त्वपूर्ण अंग थी।' तलवार ने उनके जीवन के आख़िरी सालों में ऋषभचरण जैन से लगभग विक्षिप्तावस्था के दौरान मुलाक़ात की थी : 'उनसे मिलना एक युग की असफलता से मिलना था; बम्बइया हिंदी फ़िल्मों के बाज़ारूपन के ख़िलाफ़ हिंदी बुद्धिजीवियों के संघर्ष की पराजय से मिलना था।'[39] अंत तो *चित्रपट* के सह-सम्पादक रहे कवि-सम्मेलनी मंच के लोकप्रिय

---

[37] 'अपनी बात', *रंगभूमि*, प्रथम वर्ष, बारहवां अंक, 22 मई 1932 : 3.

[38] इस तरह का बहुधंधी प्रकाशन व्यवसाय अजूबा नहीं था. संगीत कार्यालय, हाथरस के अलावा, सन् 1939 में स्थापित उर्दू की अदबी-फ़िल्मी पत्रिका *शमा* की लम्बी पारी सदी के अंत तक चली, और 1959 से चालू इसका हिंदी संस्करण, *सुषमा* भी काफ़ी सफल रहा. शमा बुक हाउस, दरियागंज से कई दीगर पत्रिकाएँ भी छपती थीं, किताबें भी. इसका मुअम्मा काफ़ी मशहूर था, और कुछ समय तक तो सिनेमा की समीक्षा देने वाला एक टेलिफ़ोनी कॉल सेंटर भी शमावालों ने चलाया. देखें, रविकान्त (2016), 'भूमिका'.

[39] वीर भारत तलवार (1994) : 180.

और प्रिंट के मशहूर राष्ट्रीय कवि गोपाल सिंह 'नेपाली' का भी दुखद हुआ, हालाँकि उन्होंने पाँचवें दशक में तक़रीबन 400 फ़िल्मी गीत लिखे और तीन फ़िल्मों का उत्पादन-निर्देशन भी किया, लेकिन आख़िरी दौर के अपने निजी ख़तों में वे छंद-प्रयोगों की विविधता और बच्चन और नीरज-प्रभृति गीतकारों द्वारा उनकी 'नक़ल' की दुहाई देते हुए कितने बौने बल्कि दयनीय लगते हैं।[40]

बहरहाल, नेपाली जी का बक़लमख़ुद एक सम्पादकीय है *चित्रपट* में 'सिनेमा और उसका सदुपयोग' शीर्षक से जिसमें भौतिकतावादी-भोगवादी पश्चिम और दार्शनिक-आध्यात्मिक पूरब के बीच की कभी न पटनेवाली खाई को रेखांकित करते हुए पश्चिम के अंधानुकरण से बचने की अपील की गयी :

> इसलिए आज मानवात्मा की यह आवाज़ है कि हमारी विभूतियों ने जब हमें पैतृक-सम्पत्ति-स्वरूप 'ललित कला' दी है, तो इसका यथेष्ट रूप से सदुपयोग होना चाहिए। इस कला का आकर्षण भी कुछ ऐसा है कि हमारे ऊपर यह शीघ्र और बहुत गहरा प्रभाव डालती है। इसके द्वारा सामाजिक-राजनीतिक अवस्था मनचाहे रूप में सुधर सकती है। स्कूलों-छात्र-छात्राओं को विद्याध्ययन में सहूलियत हो सकती है। *अब काफ़ी समय तक साफ़-सुथरे पर्दे में नर्तकियाँ थिरक चुकीं, गायक गला फाड़-फाड़ कर गा गये, कितनी ही जोड़ियाँ आलिंगन में आबद्ध हुईं और चुम्बन के दाग़ कितनों के कपोलों पर पड़े!* अब तो कुछ ऐसी तैयारी होनी चाहिए कि दीन-दुनिया दोनों सुधरे।[41]

एक तो पारसी कम्पनियों और वेश्याओं की 'फ़हश' भंगिमाओं वाली फ़िल्म कम्पनियाँ और उस पर पाश्चात्य उच्छृंखलता— करेला पर नीम चढ़ा! 'अब लौं नसानी, अब न नसैहौं'! लेकिन सवाल था कि यह सुधार हो तो कैसे हो? *रंगभूमि* जहाँ भौंडी फ़िल्मों के ख़िलाफ़ सीधे जन-आंदोलन की धमकी दे रहा था, वहीं किंचित शालीन *चित्रपट* एक अतिनाटकीय शाप देता है : 'जब हम अपने-माताओं-पिताओं और छोटे-छोटे बच्चों को किसी के नग्न रूप पर इठलाते हुए देखते हैं, तो हृदय में बड़ी चोट पहुँचती है ...अरी वासना इस संसार में अपनी मदमाती मटकी से तू जो कर और करा दे, वह बहुत थोड़ा है!' लेकिन शाप कलियुग में काम कहाँ करता है? बहरहाल एक ख़बर आती है लाहौर से कि वहाँ किसी 'सिनेमा सुधार संघ' का गठन हुआ है, जिसने सिनेमा के साथ अलग से 'विशेष नृत्य' दिखाने की रिवायत को चुनौती देने का निश्चय किया है।[42] *चित्रपट* को इसका संतोष है, और

---

[40] *परिषद-पत्रिका : शोध और आलोचना त्रैमासिक (गोपाल सिंह नेपाली विशेषांक)*, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, वर्ष 39, अंक 1-4, अप्रैल, 1999-मार्च 2000, उनकी फ़िल्म-सूची के लिए : 203 और शिकायत : 89 पर. उनके गीत जी.एस. नेपाली के नाम से रेडियो पर अब भी सुनाई दे जाते हैं.

[41] सम्पादकीय विचार, 26 जनवरी, 1934 : 12-13.

[42] पत्रिका में अन्यत्र छपे लेखों और विज्ञापनों से पता चलता है कि फ़िल्म शो के दौरान मुजरानुमा विशेष नृत्य का अतिरिक्त आकर्षण सिनेमा-हॉल के मालिक परोसा करते थे.

वह उसे अच्छी फ़िल्मों को प्रोत्साहित करने के साथ-साथ बुरी के ख़िलाफ़ लामबंदी करने की सलाह देता है, 'खेल दिखलाए जाने के पहले ही 'संघ' को उसके रंग-रूप, भावना तथा प्रभाव का निरीक्षण करना चाहिए। जहाँ कहीं भी उसे अपने उद्देश्यानुसार आपत्ति हो, उस स्थल को निकाल डालने के लिए शक्ति-भर प्रयत्न करना चाहिए। फिर भी यदि उसके सद्परामर्श से लाभ नहीं उठाया गया, तो अमोघ अस्त्र 'विरोध' है ही।'[43] यानि *चित्रपट* भी अंततः जनतांत्रिक या नागरिक संगठन के ज़रिये सेंसरशिप की हिमायत करता नज़र आ रहा है : चाहता है कि इस संघ की शाखा-प्रशाखाएँ देश-भर में खुलें। इसकी मिसाल भी उसी सम्पादकीय के एक और हिस्से में ही मिल जाती है, जिसमें 'मूक जनता' से न सिर्फ़ 'क्रियाशील' बनने की अपील की गयी है, बल्कि उनकी सक्रियता का सुखद परिणाम भी सामने आया। *लाले-यमन* नामक फ़िल्म की मुस्लिम नेता शौकत अली और अफ़ग़ान कौंसिल ने मुक्त कंठ से तारीफ़ की थी, और ख़ुद *चित्रपट* ने उस *प्रशंसा* को विज्ञापन के हिस्से के रूप छापा था।[44] 'लेकिन इसके कई स्थल *हिंदू-हमारी* जनता को पसंद नहीं आये, और फलस्वरूप इसके विरोध में हमें उनकी कई चिट्ठियाँ मिलीं। हमने अपना परम कर्त्तव्य समझकर यथाशीघ्र इसके संचालकों से इस सम्बंध में निवेदन किया। अब इस बातचीत के फलस्वरूप दिल्ली में इसका प्रदर्शन बंद कर दिया गया है और प्रांत के बाहर भी इसका प्रदर्शन संशोधित रूप में होगा।' ऐसी एकजुटता-जन्य सक्रिय सत्याग्रह की सफलता पर *चित्रपट* ने संतुष्ट होकर सिलेक्ट पिक्चर्स और मैजेस्टिक टॉकीज़ को धन्यवाद दिया और पाठकों से कहा, 'अगर हमारी जनता निष्क्रियता छोड़ेगी तभी हम अपने सिनेमा को बाज़ारू से उठाकर कला बना पाएँगे। न मालूम हमारे दर्शकों ने अपने सम्मान का स्थान 'चवन्नी' के 'टॉर्च' दिखलाने वालों के लिए क्यों रख छोड़ा है?'[45] इसी तरह सिनेमाघरों से ढेर-सारे मुफ़्त का 'पास' माँगने वाली सहधर्मिणी पत्रिकाओं के व्यवहार पर शर्मसार होते हुए *चित्रपट* ने मध्यमार्ग की सलाह दी : 'आप किसी भले आदमी से 'पास' माँगिए, पर एक सीमा के भीतर'![46] नेपाली और जैन का *चित्रपट* सिनेमा-रूपी चाँद को समाज, राजनीति और शिक्षा के महत्तर और बृहत्तर साध्यों को साधने का ज्योतिपुंज बनाना चाहता था लेकिन पहले अनपढ़ रिवायतों का ग्रहण तो कटे, सिने-आकाश से अनपढ़, लालची और मुनाफ़ाख़ोर तत्त्वों का क़ब्ज़ा तो हटे।

फ़िल्म कला सैद्धांतिकी

अब तक थोड़ा अंदाज़ा हो गया होगा कि *चित्रपट* को किस तरह की फ़िल्में स्वीकार्य नहीं थीं। जिस पिटी-पिटाई, 'फ़ॉर्मूलानुमा', लीक पर फ़िल्में बनाई जा रही थीं, वे सब की सब ठस्स और बासी थीं, क्योंकि किसी में भी 'कर्ममय दैनिक जीवन का कोई आभास नहीं', बल्कि

> विलासिता की वही रंग-रेलियाँ, वही बौंगा गायन-नर्तन, वही कथानक-शैथिल्य और वही डाइरेक्शन!...'डाकू की लड़की' में हमने देखा; हादी को पकड़ के कारागार में डाल दिया गया, परन्तु वहाँ हादी ने जरा भी गंभीरता नहीं दिखाई और चिल्ला-चिल्लाकर ख़ूब गाने गाये। 'भोला शिकार' में दीक्षित...'ओवर-ऐक्टिंग' करता है। 'यहूदी की लड़की' में यहूदी इतना अस्वाभाविक क्रंदन करता है कि वहाँ 'करुण' रस के बदले वीभत्स का संचार हो उठता है। किसी भी खेल में नायक-नायिकायें सुबह से शाम तक वही वस्त्र धारण किये रहती हैं। वही बासी भाव-भंगी, वही पुराना प्रेम-संचालन! सैरन्ध्री में कीचक के शयन-गृह में सैरन्ध्री सुरा पात्र लेकर आती है; कीचक ऐसा विलासी जीव वहाँ भी 'आउटडोर' वस्त्र में मौजूद है; एक विलासी के शयन-गृह, राज-दरबार

---

[43] इस संघ की सदस्यता का मासिक और वार्षिक शुल्क क्रमशः चार और आठ आने थे.

[44] विस्तार के लिए देखें, रोज़ी टॉमस (2011). उनके अनुसार *लाले यमन (*1933) नामक सफल फ़िल्म एक अलग तरह की मुस्लिम फ़ंतासी धारा का प्रतिनिधित्व करती थी.

[45] 'मूक जनता', सम्पादकीय विचार, 9 फ़रवरी, 1934 : 2-3.

[46] 'सिनेमा पास', सम्पादकीय विचार, 5 जनवरी, 1934 : 12-13.

> और युद्ध-क्षेत्र में कोई भी अंतर नहीं। रात का समय है, महल में प्रहरी पहरे पर खड़ा है; पर उसके अंग में, गति में कोई ऐसा आलस्य-भाव नहीं।[47]

यानि वाचाल सिनेमा के आरम्भ में ही एक तरह की स्वाभाविकता की अपेक्षा की जा रही थी, कह सकते हैं कि विश्वसनीयता के नये प्रतिमान गढ़े जा रहे थे। पर्दे पर एक ऐसा अभिनय दिखे जिसमें आडम्बर न हो, अलंकरण न हो, अतिरंजना न हो; गीत-संगीत, देहभाषा, लिबास आदि देशकाल और मूड के मुताबिक़ हों, न कि तर्क और तुक के बग़ैर— हर जगह, हर तरफ़, यकसाँ! गाने 4-5 ही होने चाहिएँ।[48] 'आउटडोर' और 'इन्डोर' की पोशाक वैसे ही अलग होगी जैसे पहरेदार की क्लांत चाल-ढाल दिन में चुस्त और रात में सुस्त होगी। *चाँद* के सिने-समीक्षक सतीशचंद्र सिंह के स्वदेशी अहं को एक दफ़ा करारा धक्का लगा था जब इलाहाबाद में उनके साथ मदन कम्पनी की *भारतीय बालक* देखने गयीं अमेरिका में रहने वाली उनकी अर्ध-भारतीय महिला दोस्त बीच में फ़िल्म छोड़कर उठ गयी थीं, क्योंकि गोली खाकर गिरने वाला अभिनेता कुछ यूँ आराम से गिर रहा था कि उसे चोट न लग जाए! फ़िल्मों में ढेर-सारे गानों के आयोजन की आदत से पहले से हीन-भाव-ग्रस्त समीक्षक ने निष्कर्ष दिया, 'एक भारतीय फ़िल्म को देखकर जितना क्षोभ मुझे उस दिन हुआ, उतना और कभी नहीं हुआ था'।[49]

इस तरह की आधुनिक स्वाभाविकता और संयत कलात्मकता की अपेक्षा का स्रोत ज़ाहिर है कि वैसा साहित्य भी रहा होगा, जो ऋषभचरण जैन और उनके प्रेमचंद-जैसे समकालीन लेखक रच रहे थे। हम यह भी जानते हैं कि जीवन-जैसी कला रचने के आग्रह के शाश्वत मानदण्ड नहीं होते। मिसाल के तौर पर जिस मेलोड्रमैटिक सिनेमा को पश्चिम में 'रोंदू-रूदाली' या 'वीपीज़' कहा गया, उसी के बारे में आगे चलकर राय ये बनी कि यही फ़िल्में तो अश्वेत-जन और महिलाएँ चाव से देखा करती थीं। बहरहाल हमें *चित्रपट* के उसी सम्पादकीय पर थोड़ा और टिकना चाहिए ताकि इस दौर में आर्ट की परिभाषा साफ़ हो :

> ऐसी स्थिति में कोई ऐसी फ़िल्म बने, जो स्थल-स्थल पर 'आर्ट' का पुट लिए पूर्णत: स्वाभाविक हो...पौ फटते ही मानव-प्राणी का अलसाये हुए उठना; सुख की निद्रा का मधुर मोह; लक्ष-लक्ष लोगों का कर्म-भूमि की ओर प्रस्थान; कर्म में लीन नर-नारियों की आत्म-विस्मृति और सहकारिता की भावनायें; अखिल सृष्टि को भूलकर वे घर की, परिजनों की, सन्तति की सुधि; उदर-पूर्ति की योजनाओं में संलग्न मनुष्य मात्र का दयनीय चित्र; जनसामान्य के वायुमण्डल में उड़ते द्वेष के कीटाणु, अपना सुंदर संसार बसाने के लिए इस हाड़-मांस के ढाँचे का अनुपम उद्योग; ज़रा-ज़रा सी बातों की हृदय पर गहरी ठेस; पतली-पतली उँगलियों से निर्मित घास-फूस की कच्ची कुटी और उसके चारों ओर माया-ममता का झीना-झीना अविच्छिन्न जाल— अपने सरल रूप में ये दृश्य यदि हमको सिनेमा में देखने को मिलें, तो न मालूम ये आविष्कार मानव-समाज का कितना कल्याण करे। *लोग भूल जाएँ कि हम कुछ पैसे देकर सिनेमा देख रहे हैं; पतन की ओर बढ़ते हुए रास्ते में ही हमें सुधार के यथेष्ट अवसर मिलें...फ़िल्म में कोई राजा नहीं, कोई रानी नहीं, कोई सेनापति नहीं और न कोई फ़ौज। सर्वत्र हमीं-आप जैसे जन एक-दूसरे की भली-बुरी भावनाओं से प्रभावित होकर संसार में रह रहे हैं।*

---

[47] 'काश कोई ऐसी फ़िल्म बनती', सम्पादकीय विचार, 19 जनवरी, 1934 : 10-11.

[48] देखें, 'परख : रंगीला राजपूत', *चित्रपट,* 16 फ़रवरी, 1934 : 16-17; हालाँकि गानों में भारतीय फ़िल्मों की आत्मा बसती है, और उन्हीं से उनकी अस्मिता भी बनती है, लेकिन बार-बार की जा रही गीतों की तादाद और मौक़े-बेमौक़े की आलोचना का असर इस दौर में होता तो ज़रूर है क्योंकि हर फ़िल्म *इंदर सभा* तो हरगिज़ नहीं थी. भले ही 1931-1940 के बीच 9 हज़ार फ़िल्मी गाने बने. फ़िल्मवार गानों की सूची के लिए देखें, हरमंदिर सिंह 'हमराज़' (1981) : खण्ड 1-6, कानपुर. ये मुख़्तलिफ़ मसला है कि आलोचक अपना राग कभी बंद नहीं करते : जब 4-5 गाने रह गये तब भी नहीं!

[49] 'मदन कम्पनी के बोलते हुए फ़िल्म', *चाँद,* जनवरी, 1932 : 425.

उद्धरण में ऊपर की रूमानी कविताई से आज़ादी के बाद के फ़िल्म्स डिवीज़न के वृत्तचित्रों की बेसाख़्ता याद आ जाती है। सवाल यह भी है कि ये हमीं-आप कौन हैं? ये भी पूछा जा सकता है कि *चित्रपट* के सम्पादकीय की भाषा दैनंदिन जीवन में कौन इस्तेमाल करता है? और उम्मीद की जा रही है कि जीवन जैसा है, वैसा ही उसका चित्रण भी किया जाए। सिनेमा को समाज का दर्पण बनाने का आग्रह। धार्मिक फ़िल्मों की सीधी आलोचना करने का साहस तो *चित्रपट* में नहीं था, लेकिन सामाजिक का समर्थन बल्कि वृत्तचित्र का ख़ाका बनता दिखाई देता है। लेकिन 'हमारी हिंदू जनता' से एक तरह का दो-फाड़ हो रहा है, लोकवृत्त में। सवाल यह भी है कि ये सम्पादक नये दर्शक की माँग कर रहे थे, या नयी फ़िल्मों की?

सिने-जगत में महिला-प्रवेश का कँटीला प्रश्न

हम जानते हैं कि कई बेतुकी सामाजिक बाड़ाबंदियाँ और पर्दादारियाँ रायज़ थीं पिछली सदी के चौथे दशक में कि गाँधी अगर 'हरिजनों' के मंदिर-प्रवेश की मुहिम चलाकर ब्राह्मणों से पिटकर भी अपने सत्याग्रह पर क़ायम थे तो दूसरी तरफ़ *चाँद* और *भविष्य* राष्ट्रीय जनांदोलन, आधुनिक शिक्षा, नौकरी और खेल-कूद के साथ-साथ[50] नाटक और सिनेमा में महिलाओं के प्रवेश को प्रोत्साहन दे रहे थे और इसके लिए भारतीय इतिहास और संस्कृति से लेकर आधुनिक व्यावहारिकता की कसौटी तक के हर तरह के तर्क जुटा रहे थे, यहाँ तक कि अपना 'अमोघ' राष्ट्रवादी तर्क भी :

> मूँछ-दाढ़ी मुड़ाए, स्त्री-भेष में पुरुषों का रंग-भूमि में आना अत्यंत हास्यास्पद तथा कला की दृष्टि से अपमानजनक है...कदापि हितकर नहीं हो सकता। यह कार्य धीरे-धीरे उसकी पुरुषोचित भावनाओं को कुचल कर अन्त में उसके पुरुषत्व पर आघात करता और उसे पुंसत्वहीन कर डालता है। इस समय देश को स्वस्थ पुरुषत्व एवं स्त्रीत्व की आवश्यकता है। *राष्ट्र-हित का ध्यान रखते हुए पुरुष को स्त्री का पार्ट खेलने की आज्ञा देना अनुचित है।* और लोग...ख़राब समझकर...स्त्रियों को वहाँ दर्शक या अभिनेत्री किसी भी रूप में नहीं जाने देना चाहते। लेकिन स्त्रियों को इस प्रकार बंद रखने का परिणाम क्या हो रहा है? उनकी शक्तियाँ अविकसित रहकर, नष्ट हो रही हैं...क्या यह आवश्यक नहीं कि हमारी देवियाँ नाट्य-मंदिर में अपने योग्य स्थान पर सिंहासनासीन हों?[51]

चाँद का यह रुख़ राधेश्याम कथावाचक के रवैये से बिल्कुल उलट है। कला की इस दुनिया को बदनाम और अपवित्र मानते हुए भी महिलाओं को इस समाज में उनकी वाजिब प्रतिष्ठा दिलाने के लिए ये पत्र उनकी सफलता की मिसालों का सचित्र जश्न मना रहे थे, और उन्हें बतौर आदर्श पेश कर रहे थे। लेकिन देवी-योग्य नाट्य-स्थान बन भी पाया था सिने-जगत अब तक? नग्नता या चुंबनादि के साक्षात फ़िल्मी दृश्यों और अफ़वाहों के अलावा गाहे-बगाहे स्कैंडलों की पुष्ट ख़बरें भी आती रहती थीं। इनमें से एक मिसाल तो हमें हास्यास्पद लग सकती है लेकिन *रंगभूमि* ने इसे अपनी सम्पादकीय नज़रे-इनायत बख़्शी, लिहाज़ा आपकी नज़र करता हूँ। हुआ यूँ कि बम्बई के एक बड़े घर से आने वाली मिस नलिनी तरखुद ने एक फ़िल्म की शूटिंग करते हुए अपने सह-अभिनेता के लिए 'प्रिय, प्राणप्रिय' आदि सम्बोधन इस्तेमाल करने से इन्कार करके सेट पर संकट पैदा कर दिया। *रंगभूमि* ने कहा कि ये तो नवइयत है— मूक सिनेमा में तो ऐसी नौबत ही न आती! फिर, 'किसी भी उच्च घराने की स्त्री इस प्रकार पति के सिवाय अन्य पुरुष को सम्बोधन कर सकेगी इस में हमें संदेह है फिर भी कला की दृष्टि से कलाकार को यह सम्बोधन कहना अनुचित नहीं। हमें आशा है कि नलिनी तरखुद

---

[50] सविनय अवज्ञा आंदोलन के दौर के भविष्य की उपलब्ध फ़ाइलों से गुज़रना विश्वास, साहस और दृढ़ता की सचित्र-साकार महिलाओं से रूबरू होना है. *भविष्य* की चंद फ़ाइलें प्रियंवद जी ने हमें उपलब्ध कराईं, जो स्कैन होकर अब चेतन पांडेय की कृपा से आर्काइव. ऑर्ग के मुक्त जनपद में उपलब्ध हैं : https://archive.org/details/BhavishyaYear1Issue31931RamRakhaSinghSehgal_201606.

[51] 'रंगमंच पर स्त्रियों का स्थान' *चाँद*, मार्च 1930 : 877-80.

स्वयं ही इस कठिनाई को दूर कर देंगी। बीसवीं शताब्दी के अंदर इन विचारों का आना हमारी प्राचीन संकीर्णता का परिचायक है।'[52] इसी तरह *चित्रपट* के एक साहित्यिक-से लगते उपनाम वाले पाठक ने एक दो-तीन फ़िल्म पुरानी अभिनेत्री बहन श्यामा ज़ुत्शी के नाम— जिसने भवनानी के स्टूडियो के 'अशुद्ध वातावरण' के ख़िलाफ़ विरोध दर्ज करते हुए फ़िल्म लाइन छोड़ देने का ऐलान किया था— खुला ख़त लिखकर यह सलाह दी थी कि 'चूँकि आप अकेली क्रांति पैदा नहीं कर सकतीं', अतः जब तक यहाँ का माहौल पाक नहीं हो जाता आप-जैसी 'भद्र कुमारियों' का आना ठीक नहीं।[53] *चित्रपट* के प्रधान सम्पादक ने ख़त छापने की दिलचस्प कैफ़ियत भी दी :

> ... कि फ़िल्म-क्षेत्र में प्रवेश करने की इच्छुक शिक्षित युवतियाँ उस पर गम्भीरतापूर्वक विचार करें। इसमें सन्देह नहीं, कि भारतीय स्टुडिओ में सामान्य वेश्याओं का आधिपत्य देखकर हमें क्लेश होता है, और हम शीघ्र-से शीघ्र भारतीय फ़िल्मों को इस महाकलंक से विमुक्त देखने को व्याकुल हैं, पर हमारी ग़ैरत यह कभी गवारा नहीं कर सकती कि हमारी बहनें यौवन-सुलभ उत्साह के वशवर्तिनी होकर बिना सोचे-समझे इस पापाग्नि में प्रवेश करने के पूर्व वे उसके वातावरण का सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लें, और देख लें, कि वहाँ उनके निष्कलंक चरित्र पर कोई धब्बा लगने की सम्भावना तो नहीं है। हमें हर्ष है, कि भारतवर्ष में 'न्यू थियेटर्स' और 'प्रभात' ऐसी दो कम्पनियाँ उत्पन्न हो गयी हैं, जिनमें प्रवेश करने के लिए हम इन बहनों से सिफ़ारिश कर सकते हैं।

अजीब पसोपेश और असमंजस की स्थिति है न सिर्फ़ इन पत्रिकाओं के लिए, जिनका दाना-पानी सिनेमा से चलता है, बल्कि पूरे समाज के लिए कि इस दुनिया में जाने के लिए अभी तक सिर्फ़ दो ही वर्ग की महिलाएँ तैयार हैं : ऐसी जिनका पेशा पहले से प्रदर्शनकारी रहा है, यानि तवायफ़ों का या फिर ऐसी उच्च घराने की महिलाएँ, जिन्हें लोकापवाद से फ़र्क़ नहीं पड़ता। पहले वर्ग की पतनशील अभिनेत्रियों के लिए हमारे सम्पादकों के पास न अच्छे शब्द हैं, न सदिच्छा है और न ही शुभकामनाएँ, अपितु घृणा कूट-कूट कर भरी है! दूसरे वर्ग में ऐसी ग़ैर-हिंदी-भाषी महिलाएँ भी आती थीं, जिनकी संवाद-अदायगी में उच्चारण-दोष आम था। दुर्गा खोटे तो अपवाद ही थीं तब तक और आने वाले एकाध दशक तक![54] संयोग नहीं कि नीपा मजुमदार ने महिला स्टारडम पर लिखी अपनी किताब *वॉन्टेड कल्चर्ड लेडीज़ ओन्ली* का नाम 1943 के *फ़िल्मइंडिया* के एक विज्ञापन से लिया है और आवरण पर दुर्गा खोटे की *अमर ज्योति* की एक तस्वीर डाली है, जहाज़ी लड़ाकू की वेशभूषा में। उन्होंने *फ़िल्मइंडिया* और *फ़िल्मलैंड* सहित अंग्रेज़ी की कई पत्रिकाओं के अलावा *रंगभूमि* का भी इस्तेमाल किया है यह बताने के लिए कि उस समय भला, भद्र, शिक्षित, अमीर ये सब अमूमन समानार्थी अल्फ़ाज़ थे, यानि वर्ग और सांस्कृतिक स्थिति में एक नैसर्गिक समीकरण मान्य था। अभिनेत्रियों के नाम के आगे मिस/मिसेज़ लगाकर या बाद में डिग्रियाँ जोड़कर उन्हें अतिरिक्त आदरणीय बनाकर पेश किया जाता था। यह उस मध्यवर्ग के आदर्शों का ही प्रतिरूपण था, जिसके प्रतिनिधि *चित्रपट* के सम्पादकगण थे। पार्थ चटर्जी की तरक़ीब कि राष्ट्रवादी बुद्धिजीवियों ने उन्नीसवीं सदी से ही पश्चिमी (भौतिकतावादी)और पूर्वी (आध्यात्मिक) जीवन-पद्धतियों में फ़र्क़ किया, आपने लक्ष्य किया होगा, गोपाल सिंह नेपाली के उपरोक्त सम्पादकीय में भी द्रष्टव्य है। आगे वे बताते हैं कि महिलाओं को राष्ट्रवादी विमर्श में उस अंत:पुर या गर्भगृह का अंतेवासी और आध्यात्मिकता का सुरक्षित पुंज बताया गया जो अभी भी 'बाहरी' अथवा पाश्चात्य भ्रष्ट आचारों से अछूता, अविजित और पवित्र है इसलिए राष्ट्रीय नवजागरण की धुरी या प्रेरणा बनने की पात्रता रखता है। सिनेमा की दुनिया तो बाह्य के भी नितांत बाहरी दायरे पर टिकी थी, जहाँ पारम्परिक पतनशीलता और अय्याशी का पाश्चात्य प्रभावों से

---

[52] 'अपनी बात', *रंगभूमि*, 1 जनवरी, 1932 : 3.

[53] केदार नाथ मिश्र 'केदार', 'कुमारी श्यामा ज़ुत्शी के नाम पर खुली चिट्ठी', *चित्रपट* नववर्षांक, 1934 : 132-33.

[54] दुर्गाबाई खोटे की प्रशंसात्मक जीवनी के लिए देखें, श्री 'कुमार'-लिखित जीवन-पट, *चित्रपट*, 12 जनवरी, 1934 : 26-27.

सहज-गँदला संगम हो रहा था। राष्ट्र के बुद्धिजीवियों की नज़र में सिनेमा की दुनिया तो वैसे ही भ्रष्ट और अय्याश पुरुषों तथा वेश्याओं का अड्डा थी, जिससे निजात पाए बिना शिक्षाप्रद और स्वस्थ फ़िल्में नहीं बन सकती थीं।

इस प्रसंग में *चित्रपट* के घोषित तौर पर परस्पर-पूरक दो सम्पादकीय ग़ौरतलब हैं, जो सिनेमा से जुड़ी व्यावसायिक पत्रिका के भौतिक धरातल और नैतिक असमंजस को बख़ूबी बयान करते हैं, और कुछ बारीक व्यावहारिक विकल्प भी पेश करते हैं : पहला, 'फ़िल्मों में बहन-बेटियों का प्रवेश' और दूसरा, 'फ़िल्म ने हमें क्या दिया'। पहले सम्पादकीय में उन लोगों की ख़बर ली गयी है, जो इस सिद्धांत के क़ायल हैं कि अभिनय में ख़ास तरह की भाव-भंगिमाओं और कटाक्ष-चितवन की ज़रूरत होती है, जो वेश्याओं को ख़ून, माहौल और विरसे में सहज ही हासिल है। ऋषभचरण जैन पूछते हैं कि ऐसी फ़िल्में ही क्यों बनाई जाएँ, जिनमें मानवीय दुर्गुणों को उभरने का मौक़ा मिले? हमें बस *राजरानी मीरा* और *एशिया का प्रकाश* जैसी फ़िल्में चाहिएँ। इतने-भर से सिनेमा के कामलोलुप संसार में 'हमारी दूध-धोई, फूल-सी' बेटियाँ सुरक्षित नहीं हो जातीं, लेकिन 'फ़िल्मों के स्वर्ण-वाटिका में वेश्याओं की चहचहाहट' नाक़ाबिले-बर्दाश्त है, और उनके हाथों में हमारी संतान का भविष्य बंधक है, इसलिए हमें शिक्षिता कन्याओं या महिलाओं को लाना होगा। चूँकि यह बदलाव अचानक नहीं हो सकता, लिहाज़ा एक चरणबद्ध योजना तजवीज़ की जाती है :

> 1. आरम्भ में ऐसे दम्पति इस क्षेत्र में प्रवेश करें, जो समान रूप से शिक्षित, समझदार तथा इस लाइन में प्रवेश पाने के लिए लालायित और योग्य हों।
> 2. स्वयं डाइरेक्टर या कम्पनी के मालिक योग्य और सच्चरित्र अभिनेताओं के साथ, हो सके, तो अपने परिवार के साथ, अपनी माँ-बहिन-स्त्रियों को भेजें। इससे अभिनेत्रियों के प्रति उनके दृष्टिकोण में अंतर आयेगा, तथा वे स्टूडियो के वातावरण की उच्छृंखलता को दूर करने की ओर विशेष प्रयत्नशील होंगे।
> 3. फ़िल्मों के कथानक ऐसे चुने जाएँ, जिनमें मुख्य पात्र या पात्री के मुख से न तो कोई अश्लील संवाद कहलवाया जाए, और न कोई अभद्र चेष्टा कराई जाए। यदि आरम्भ में आर्थिक हानि की आशंका अधिक सताये, तो बीच-बीच में नृत्य आदि के अवसर पर किसी वेश्या को अतिरिक्त रूप में बुलवा लिया जाए, तथा ऐसे दृश्यों में मुख्य भूमिका में कार्य करने वाली उच्च घराने की कन्याओं या महिलाओं के आने का निषेध हो। लोक-रुचि कुछ ही परिष्कृत होते ही वेश्याओं का इतना सम्पर्क भी फ़िल्मों से एकदम दूर कर देना चाहिए।
> 4. केवल प्रेमी-प्रेमिकाओं के वियोग, रोमांच (Romance) और मिलन की भित्ति पर प्राय: एक ही ढाँचे की कहानियाँ गढ़ने के स्थान पर उच्च कोटि के धार्मिक, ऐतिहासिक, सामाजिक, शिक्षा-संबंधी तथा खेल-कूद विषयक फ़िल्म तैयार किये जाएँ; स्त्रियों के अभिनय का यथा-साध्य अभाव करने की ओर प्रयत्नशील हुआ जाए।[55]

यानि मसला, गुहार या नारा सिर्फ़ 'वॉन्टेड कल्चर्ड लेडीज़ ओन्ली' का नहीं था, बल्कि उन भद्र महिलाओं के लिए भी प्रवेश की शर्तें थीं। पति-पत्नी का एकल परिवार या पारिवारिक व्यवसाय वह आवश्यक छत्रछाया या कवच होगा जहाँ कोमलांगी कुमारियों को सांस्थानिक हिफ़ाज़त मुहैया कराई जाएगी। इस सुरक्षा-चक्रव्यूह के हर चक्र में पारिवारिक निगहबानी और संरक्षण का प्रावधान और कुछ इस तरह का श्रम-विभाजन किया गया, जो दशकों तक भारतीय सिनेमा में एक तरह की रूढ़ि बनकर क़ायम रहा : भद्र महिलाएँ भद्र माहौल में सिर्फ़ भद्र भूमिकाएँ करेंगी। इसकी एक ठोस मिसाल भी मिलती है उसी समय से : जब सरोजिनी नायडू की बहन सुनालिनी देवी एक ऐतिहासिक फ़िल्म वीर *कुणाल* (1932) में सम्राट अशोक के दरबार में नृत्य पेश करती हैं तो हिंदी बुद्धिजीवी हाय-तौबा

---

[55] सम्पादकीय विचार : 'फ़िल्मों में बहन-बेटियों का प्रवेश', *चित्रपट,* 15 दिसम्बर, 1933 : 12-13.

मचा देते हैं कि फ़िल्म को इतने बाइज़्ज़त ख़ानदान की कन्या लेने से प्रचार में फ़ायदा तो मिला, लेकिन अग्रणी राष्ट्रीय नेता की ख़ास बहन (!) से ऐसा 'आयटम' नंबर करवाना शोभा नहीं देता! इससे जनता में भ्रम फैलता है।[56] तो ढर्रा यही बना कि नादिरा, हेलेन, शशिकला और बिंदु जैसी अभिनेत्रियाँ खलनायिका के तौर पर टाइपकास्ट हो गयीं : उनकी पोशाक पश्चिमी होती थी, वे क्लबों में नाचती-गाती थीं, और नायक को लुभाने-पटाने की कोशिश करती थीं, लेकिन उनका अंत किसी खलनायक के बुलेट के रास्ते में आ जाने से हो जाता था।[57] यानि एक तीर में कई सांस्कृतिक शिकार हो जाते थे, सुखान्त में कितनी पारिवारिक मर्यादाएँ ढहने से रह जाती थीं। कहा जा सकता है कि तजवीज़ के तौर पर यह *चित्रपट* के प्रधान संपादक का ऐसा अद्भुत ब्राह्मणवादी समाधान था जिसमें कुशल बनिये की व्यवहारकुशलता का चतुर पुट था— जिस जगह से परिवार को ख़तरा पेश आ रहा हो, उसे ही पारिवारिक बना दो : क़िस्सा ख़त्म। कई कहानियाँ तस्दीक़ करती हैं कि आने वाले दौर में कम-से-कम फ़िल्मी नायिकाओं के असली जीवन पर तो उनके परिवार वालों की निगहबानी और बहुत हद तक हुक्मरानी क़ायम ही रही।

बहरहाल प्रधान संपादक को यह भी लगा कि फ़िल्मी दुनिया की उनकी आलोचना कुछ ज़्यादा तीखी हो गयी थी, तो उन्होंने ग़लती सुधारते हुए एक और संपादकीय लिखा जिसमें सिनेमा के एके-बाद-दीगरे छह फ़ायदे भी गिनाए :

> 1. एक ऐसे निर्धन देश में जहाँ ज़्यादातर धनिक बैठे-बैठे सूद का पैसा खाते हैं, फ़िल्म-व्यवसाय ने हज़ारों-लाखों लोगों को रोज़गार दिया है।
> 2. सिनेमा के आने से कई चरित्रहीन, कोठे पर या थिएटर में जाकर मुजरा सुनने वाले पुरुषों को अपनी इच्छापूर्ति का अपेक्षाकृत सस्ता साधन मिल गया है।
> 3. कुछ समय पहले तक जब विदेशी फ़िल्मों का दौर-दौरा था तो देश का लाखों-करोड़ों रुपया विदेशी पूँजीपतियों के पेट में समा जाता था। अब देश का पैसा सिंधु और बम्बई के इस पार रहकर चक्कर काटता रहता है।
> 4. फ़िल्म के द्वारा हमें अपने ऐतिहासिक और पौराणिक अतीत का गौरव प्रकट करने की कला हाथ लग गयी, सामाजिक समस्याओं को सुलझाने का साधन मिल गया और आगामी सन्तान को बहुत-सी उपयोगी बातें बताने का सुयोग प्राप्त हो गया।...इस वर्ष के कुछ अच्छे चित्रपटों की प्रगति देखकर हमें विश्वास है, कि निकट भविष्य में इस कला का सम्पूर्ण सदुपयोग किया जाने लगेगा।
> 5. अपने देश के महान लेखकों की कृतियाँ अधिक आकर्षक, सुन्दर और प्रभावशाली ढंग से सुलभ करने का उपाय हो गया।...अब तक भेड़ियाधसान चलती रही...लक्षणों से प्रकट होता है कि आगामी वर्ष उन्नतिशील सिद्ध होगा।
> 6. सब से अन्त में फ़िल्मों द्वारा जो एक महत्वपूर्ण लाभ हुआ है— वह है राष्ट्र-भाषा का प्रचार। भारतवर्ष के अधिकांश चित्रपट आज हिंदी के माध्यम पर तैयार किए जाते हैं। इस हिंदी की भाषा यद्यपि सर्वांगीण रूप से शुद्ध नहीं होती, तोभी फ़िल्मों में हिंदी का वर्तमान रूप सन्तोषजनक है, और परोक्ष रूप से राष्ट्रभाषा के प्रचार का इतना प्रबल कार्य फ़िल्म के द्वारा हो रहा है, जो हिंदी साहित्य सम्मेलन, हिन्दू महासभा अथवा राष्ट्रीय महासभा के वर्षों के सम्मिलित प्रयत्नों से भी न होता।
> क्या ही अच्छा हो...यदि इस व्यवसाय को सभी विचार के लोगों के लिए वन्दनीय बना दिया जाय, और हमारे लिए यह सम्भव हो सके, कि हम प्रत्येक फ़िल्म को माँ, बहन और अपनी सन्तान को निस्संकोच भाव से दिखा सकें![58]

---

[56] धनीराम 'प्रेम', 'भारतीय सिनेमा', *सरस्वती*, भाग 1, खण्ड 1, जनवरी, 1933 : 103-12.

[57] ख़्वाजा अहमद अब्बास (2011) ने ऐसी ही खलनायिका का चित्रण अपनी कहानी 'दो चेहरे' में किया, जो उनके *बेहतरीन अफ़साने*, (अनु.) एम. नदीम, में संगृहीत है. देखें, : 83-92.

[58] सम्पादकीय विचार : 'फ़िल्म ने हमें क्या दिया', *चित्रपट*, 29 दिसम्बर, 1933 : 12-13.

ज़ाहिर है कि सिनेमा एक अभिनव साधन है जिससे कई स्वदेशी काज पूरे हो सकते हैं, हो रहे हैं— रोज़गार-सृजन हुआ है, धन का विदेशी दिशा में बहाव रुका है और इतिहास-पुराण के सम्यक फ़िल्म-निर्माण से जन-कल्याण होगा, ऐसी संपादक को उम्मीद है। एक चीज़ जो परिवार की ज़द से छूट रही थी कि फ़िल्म देखने का माहौल भी पारिवारिक हो, यहाँ आ गयी, और आने बाद इस आदर्श का वर्चस्व हमारे मानस पर हाल-हाल तक रहा है या अब भी है, यह सोचकर जैन साहब की दूरंदेशी की दाद देनी पड़ती है कि फ़िल्म के अच्छे होने की ऐसी स्थायी कसौटी का सृजन उन्होंने किया। पाँचवें बिंदु पर प्रेमचंद और *सेवासदन* के फ़िल्मांतरण से जागती उम्मीदें हैं कि सिनेमा सत्साहित्यानुरागी और सत्साहित्यानुगामी बनेगा। लेकिन सिनेमा और हिंदी भाषा को लेकर तो वाक़ई वे दूर की ऐसी कौड़ी लेकर आए, जिसमें पैबस्त हक़ीक़त को स्वीकारने में हिंदी के हिमायतियों को कई दशक लगे। रविशंकर शुक्ल-जैसे हिंदी-कार्यकर्ता जो चौथे और पाँचवें दशक में सिनेमा और रेडियो-जैसे प्रतिष्ठानों पर फहराते उर्दू या ख़राब हिंदी का झंडा उखाड़कर शुद्ध हिंदी का परचम फहराना चाहते थे, उनके अतिवादी दृष्टिकोण से कहीं उदार था *चित्रपट* का दृष्टिकोण कि इसमें *चाँद* ही की तरह उर्दू शायरों की 'सटीक' शायरी को बाइज़्ज़त छापा जाता था। दिलचस्प है यह भी नोट करना कि सातवें दशक की *माधुरी* हिंदी की सिनेमाई प्रगति से क़तई मुतमइन नहीं थी और इसीलिए उसने 'भाषा-भारती' नामक संगठन और अपनी समीक्षाओं में मुसलसल टोका-टाकी करके अंग्रेज़ी क्रेडिट या नामावली की नागरी से प्रतिस्थापना की पुरशोर और पुरज़ोर मुहिम चलाई, और कुछेक मध्यधारा के फ़िल्मकारों पर उसका असर भी हुआ था। क़िस्सा कोताह यह कि हिंग्लिश सिनेमा के अपने ज़माने में हम *चित्रपट* के लालबुझक्कड़-पूर्वानुमान और 'हिंदू-हिंदी-हिंदुस्तान'-घोषिणी नामी-गिरामी संस्थाओं के मुक़ाबले सिनेमा के भाषाई प्रसार के महत्तर योगदान की संतुष्ट स्वीकृति पर रीझ सकते हैं।

विस्मयादिबोधक सिने-विज्ञापन!

लेख का यह खण्ड चित्रात्मक होगा चूँकि शब्दों में अनिर्वचनीय ये विज्ञापन देखकर पढ़ने से त'आल्लुक़ रखते हैं। और चूँकि हमारी हर कहानी *चाँद* से शुरू हुई है, इसलिए यह भी सिनेमा-संबंधी एक अद्भुत विज्ञापन को पढ़ने से होगी, जिसमें एक नयी प्रौद्योगिकी से पैदा उछाह और अवसर दोनों ही भावों को अल्फ़ाज़ में बयान करने की कोशिश की गयी है :

> *परदे पर चलता फिरता तमाशा दिखाने वाली बायस्कोप मशीन*
> *आप बेकार क्यों हैं? देखिये दौलत का पेड़ सामने है*

> यदि आप बेकार हैं तो मत पछताइए देखिये— दौलत का पेड़ आपके सामने है साहस करके उठिये और मनवांछित धन प्राप्त कीजिए। *पर्दे पर चलता फिरता तमाशा दिखाने वाली मशीन जिसे हिंदी में बायस्कोप और अंग्रेज़ी में सिनेमा कहते हैं।* आपकी बेकारी को दूर कर मनवांछित धन देगी। *इसके मुक़ाबले कोई व्यापार है ही नहीं।* इस मशीन के जरिये देहात या शहर में 2 घण्टे तमाशा दिखाकर 2) से 25) रोज तक पैदा कर सकते हैं। मशीन के साथ फिल्म जिसमें तीन तमाशे होते हैं तथा आवश्यक सामान व विधिपत्र मुफ़्त भेजा जाता है। मनबहलाव के लिये छोटी 8) 10) 15) 25) तमाशा दिखाकर रुपये पैदा करने वाली बड़ी मशीन 50) 80) 100) 200) से 1500) तक। माल मँगाने का पता : दी एशियाटिक ट्रेडिंग कम्पनी पोस्ट बक्स 6720 कलकत्ता।[59] (ज़ोर हमारा)

'दौलत का पेड़' पौराणिक कल्पतरु का हिंदुस्तानी अनुवाद है, और 'तमाशा' सिनेमा का। ऐसा लगता है कि 'बायस्कोप' अब तक हिंदी में पचा लिया गया है। 'टूअरिंग टॉकीज़' नाम तो बाद में ही आया होगा, क्योंकि यह बात सन उनतीस की है और व्यापारिक नज़रिये से यह विज्ञापन कितना अगमजानी सिद्ध होता है!

चित्रपट के चिर-परिचित लेखक-समीक्षक, वैद्यरत्न श्री गजानंद शर्मा एम. ए., ने फ़िल्म-व्यवसाय के संबंध में कई विचित्र बातें — ऐसे मानो-या-न-मानो-लेकिन-सच-है टाइप के तथ्य जिन्हें बाद में फ़िल्म अध्ययन में 'ट्रिविया' कहा गया — बताईं, जिनमें से एक दिलचस्प है, 'अमेरिका तथा इंग्लैंड से प्रकाशित होनेवाले सिनेमा-पत्र, फ़िल्म-कंपनियों तथा प्रदर्शन-गृहों के विज्ञापन से नहीं चलते। कदाचित् किसी पत्र को ही एकाध-पेज का मिल जाता हो, वरना अधिकतर ऐसे विज्ञापनों से ख़ाली रहते है। *उन देशों में सिनेमा-साप्ताहिक-पत्र साबुन, घड़ी, बाजे, तेल, ख़िज़ाब, वस्त्र और दवाइयों के विज्ञापन से लदे रहते हैं।'*[60]

[59] *चाँद*, वर्ष 7, खण्ड 1 फ़रवरी, 1929.

[60] *चित्रपट*, 9 फ़रवरी, 1934 : 10.

आज के संदर्भ में तर्जुमा करके कहें तो उस समय के विलायती सिनेमा पत्र अमिताभ बच्चन थे! जबकि हिंदुस्तानी सिनेमा इस दौर में सितारों की मूल्यवत्ता और बाक़ी चीज़ें बेच पाने की उनकी क्षमता के लिहाज़ से इस मुक़ाम तक नहीं पहुँचा था। अपने नए आयकॉन-सहित फ़िलवक़्त सिनेमा ख़ुद को ही बेच रहा था, इसलिए *चित्रपट* में छपे ज़्यादातर विज्ञापन सिनेमा-व्यवसाय से ही त'आल्लुक़ रखते थे। अंतिम उत्पाद यानि बनी हुई फ़िल्म के अलावा निर्माण, ध्वन्यांकन, सिनेमैटॉग्रफ़ी, वितरण, प्रदर्शन और प्रक्षेपण से जुड़े यंत्र ग़रज़ कि सिनेमाघर तक सिने-व्यवसाय से जुड़ी पूरी तकनीकी शृंखला विज्ञापनीय थी। चूँकि बाक़ी कारोबार उसी पर मुनहसर था, लिहाज़ा सबसे ज़्यादा आकर्षक बनाने के चक्कर में बेहतरीन नवाचार भी तैयार फ़िल्म के प्रचार में ही दिखाई देता है। दोनों में फ़र्क़ तो था ही, लेकिन बहुत जल्द समीक्षा की शब्दावली तेज़ी से चोला बदलकर फ़िल्म को बेचने का औज़ार बन जाती थी।

इस समय तक फ़िल्म-व्यापार की अलग पत्रिका की अवधारणा नहीं विकसित हुई थी, इसलिए एक ही विज्ञापन में तमाम वर्गों को सम्बोधित किया जाता था, ज़्यादातर तो बेनामी संदर्भ के यह कहते हुए कि 'जिसने देखा वाह-वाह! या अश-अश कर उठा!' तो कई बार उनके नाम लेकर। धर्म और समुदाय के नाम पर कभी-कभार अपील की जाती थी, यानि 'हिंदू सोशल' और 'मुस्लिम सोशल' नामक विधाओं की नींव डाली[61] जा रही थी : 'अगर आप सामाजिक फ़िल्म देखने के शौक़ीन हैं, अपने सिनेमा को भले दर्शकों से भरना चाहते हैं, घर की महिलाओं को ऊँची शिक्षा देना चाहते हैं तो औरत का दिल अवश्य देखिये।'[62] बहुधा फ़िल्म को बार-बार और सपरिवार देखने की अपील की जाती थी। गण्यमान्य लोगों और नेताओं और कभी-कभार सितारों की सचित्र अनुशंसा ख़ुद पत्रिका और फ़िल्म के प्रचारार्थ छापी जा रही थी। अगर किसी गायिका का नाम है, मसलन अगर मिस बिब्बो की ख्याति दिल्ली में थी, तो दिल्ली के दर्शकों को शहर का वास्ता दिया जाता था ताकि बाक़ी दर्शकों को भी उसकी पहले से स्थापित प्रसिद्धि का एहसास हो जाय : 'इसमें मिस बिब्बो के ऐसे मधुर गायनों का समावेश किया गया है, जो दिल्ली की जनता के कानों में सदा गूँजते रहते हैं।'[63] मिस दुलारी ग्रामोफ़ोन की मशहूर गायिका थी तो ये बात लोगों को याद दिलाई जाती थी। विशेषणों का एक ख़ास तर्ज़ था : गौहर को 'सिनेमा की रानी' कहा गया तो मिस पद्मा को 'बंगाल की बुलबुल'।

प्रत्यक्ष विज्ञापन के अलावा कई परोक्ष तरीक़े थे : *चित्रपट* में 'सिनेमा-समाचार' और 'दिल्ली के सिनेमा-समाचार' नामक दोनों स्तंभ व्यापार— ख़बरों की शक्ल में विज्ञापन भी तो थे। निर्माता/वितरक/प्रदर्शक के बीच सिनेमा की ख़रीद-फ़रोख़्त-संबंधी बातचीत, चूँकि इसमें वक़्त लगता था इसलिए रीलों के परिवहन का साप्ताहिक आँखों देखा हाल, प्रदर्शन किस हफ़्ते कैसा चल रहा है, उसकी ख़बरें— ऐसा लगता था कि पोस्टरों की टाइमिंग फ़िल्मों की टाइमिंग से मिलाई जाती थी, गोया कोई समझौता हो सिने-निर्माताओं और प्रदर्शकों से कि विज्ञापनों के लिए अतिरिक्त जगह भी मुहैय्या कराई जाएगी। 'बेभावकी' नामक सामयिक स्तंभ में मुंशी चप्पलदास के चुटीले शब्दजाल भी अक्सर उन्हीं फ़िल्मों के नामों या चरित्रों के इर्द-गिर्द बुने जाते थे, जिनमें कुछ रसीली चुटकियाँ भी ली जाती थीं। लेकिन जिसे हम आज की ज़बान में गॉसिप कहेंगे, उसके लिए तो 'बुरा न मानो होली है' जैसे सामाजिक अपवादकाल में निकलने वाले 'होलिकांक' को ही देखना पड़ेगा, उसमें भी निर्माता-निर्देशकों-अभिनेताओं-अभिनेत्रियों के बारे में गप्प इतने अविश्वसनीय तौर पर निरापद होते थे जैसे कि बाद की

---

[61] 'हिंदू सोशल' मेरा अपना पद है उन शुरुआती पाकिस्तानी फ़िल्मों के लिए जिनमें हिंदू तत्त्व प्रधान होते थे, देखें रविकान्त (2016) और (2019). 'मुस्लिम सोशल' पर बहुत कुछ लिखा गया है, ख़ास तौर पर देखें, इरा भास्कर व रिचर्ड ऐलेन (2009).; रवि वासुदेवन (2015).

[62] *चित्रपट*, 2 फ़रवरी, 1934.

[63] देखें, एजेण्टा सिनेटोन का विज्ञापन, *चित्रपट*, 29 जनवरी 1934 : 3. 'एजेण्टा', ज़ाहिर है, 'अजन्ता' का अंग्रेज़ी भ्रष्ट रूप है!

धर्मयुग–साप्ताहिक हिंदुस्तान आदि साहित्यिक पत्रिकाओं के होली–विशेषांकों में में कवि–कवयित्रियों के बारे में पढ़ रहे हों।

इसमें कोई शक नहीं कि विज्ञापनों की साज–सज्जा की अतिरिक्त कोशिश की जाती थी। किताबों की सजावट में स्थापत्य का दृश्य — व्याकरण काफ़ी समय से चला आ रहा था — आवरण सहित हर पृष्ठ को एक घर मानकर तोरण–द्वार से लेकर कलात्मक चौखट और फूल–पत्ते या दीगर प्रतीकों वाले बॉर्डर आदि बनाए जाते थे, लेकिन शब्दों की सत्ता सार्वभौम और सर्वोच्च थी।

पन्ने पलटने पर पहली नज़र में ही स्पष्ट हो जाता है कि हम सिनेमा–विज्ञापन के विराम–चिह्न युग में जी रहे हैं। एक सीधापन है संप्रेषण में जो पर्दे से शरीर में और शरीर से अभिव्यक्तियों में स्थानांतरित करने की चेष्टा में विस्मय–भरे शब्दों और विस्मयादिबोधक अलामतों का इस्तेमाल करता है।[64] इन चिह्नों का अतिरंजित इस्तेमाल शब्दों में छुपे स्वरों को उभारने की कोशिश का नतीजा लगता था — गोया कॉपी तैयार करने वाला, जो अक्सर सिनेमा कम्पनी का लेखक ही होता था, अपने छपे शब्दों से कह रहा हो : तुम कब बोलोगे, अब तो फ़िल्में भी बोलने लगीं! रफ़्तार या मारधाड़ की उत्तेजना हो या आध्यात्मिक आनंद, सामाजिक उपादेयता या शैक्षणिक उपदेशात्मकता— इन सबका बखान करने में शब्द एक के बाद एक रेल के डिब्बे की मानिंद, या मिस्र के सीधे या उल्टे पिरामिड की शक्ल में एक के ऊपर एक या फिर जापानी शैली में ऊपर से नीचे स्तंभाकार हुलिये में तर–ऊपर चढ़े आते हैं। ब्लॉक छपाई के ज़माने में अक्षरों की छपाई लेखन के ढर्रे पर कम छपाई के चैत्रिक डिज़ाइन से ज़्यादा प्रेरित थी, इसलिए लिपि की गति क्षैतिज या लंबवत किसी दिशा में हो सकती थी। पाठकों की नज़रों को लुभाने के लिए बाज़ार में फ़ाउन्ड्री से 'नये टाइप के स्टॉक प्रेस के लिए' आते रहते थे, फ़ॉन्ट जिन्हें 'टाइपफ़ेस' कहा जाता था। लब्बेलुआब ये कि सुलेखन या किताबत के तमाम आज़मूदा गुरों में इज़ाफ़त की जा रही थी। फिर भी यह साफ़ हो जाता है कि देवनागरी का सुलेखन कभी भी उर्दू का वह वैभव हासिल नहीं कर पाता, जो *मुसव्विर* जैसी पत्रिका या पाँचेक साल बाद शुरू *शमा* के पन्नों में दिखाई देता है, गोकि *शमा* के भगिनी प्रकाशन *सुषमा* में ऐसी नायाब कोशिशें देखते बनती हैं।

'सेवा-सदन' में मिस ज़ुबेदा नये भाव में

किस गहरे सागर के जल में मन-मयूर अभिसिक्त हुआ। विगत समय की स्वर्ण-स्मृति से या मन सुख से रिक्त हुआ?

ज़ाहिर है शब्द पर निर्भरता कुछ ज़्यादा थी लेकिन ख़ास तौर पर फ़िल्मों के विज्ञापन के तरीक़ों में सफ़ेद–स्याह और स्टूडियो में हाथ से रंगीन किए हुए फ़ोटो दोनों का इस्तेमाल मिलता है। पहले *सरस्वती, माधुरी* और इन सबसे ज़्यादा *चाँद* और *भविष्य* ने रंगीन तस्वीरों और फ़ोटुओं की सत्ता स्थापित कर ही दी थी। *चित्रपट* का आवरण 'उस समय का रंगीन' होता था, बीच में किसी नायिका की फ़िल्मी तस्वीर के साथ, पहले पन्ने पर सियारामशरण गुप्त, हरिऔध या स्वयं

[64] अगर उस समय के साहित्यकारों से तुलना की जाय तो ग़ौरतलब है कि रामबृक्ष बेनीपुरी और राजा राधिकारमण प्रसाद की भाषा में ऐसी ही चित्रात्मक ध्वन्यात्मकता पाई जाती है.

मिस मोती

'बगदादीचोर'-नामक चित्रपट में

तारों की चमकीली छाया-सी तुम आईं।
सुन्दर, सुखद, सलोनी मादकता सँग लाईं।

नेपाली–जैसे किसी प्रसिद्ध कवि की एक छोटी–सी कविता होती थी और अंदर के पन्नों में ढेर–सारी तस्वीरें होती थीं, जिनके नीचे दोहे या कभी–कभार शे'र भी होते थे, नायिका या फ़िल्मी दृश्य की मुद्रा से मेल खाते या भावों में अभिवृद्धि करते। चूँकि इन कविताओं, पेंटिंग या फ़ोटुओं को क्रेडिट देने का रिवाज नहीं चला था, इसलिए हम इनके रचनाकारों के बारे में अभिज्ञ हैं। पाठक याद करेंगे कि बरास्ता *शमा–सुषमा* नामज़दगी के साथ यह रियाज़ अरविंद कुमार की *माधुरी* के शुरुआती सालों तक चलता है। *चित्रपट* विशेषांक छापने के अपने दुस्साहस का ब–आवाज़–ए–बुलंद ऐलान करता है और मानना पड़ेगा कि साज–सज्जा, उत्कृष्ट सामग्री की विविधता और कलेवर (300 से ज़्यादा पृष्ठ) को देखते हुए मुझे उस दौर की कोई फ़िल्मी पत्र–पत्रिका, जो इसके नववर्षांक से टक्कर ले सके, अब तक नहीं दिखी है।

भाषा के नवाचार

हिंदी के भाषांगन में अनवरत क्रीड़ारत मुंशी चप्पलदास ने एक बार विस्मित होकर चुटकुला छोड़ा था, 'फ़िल्मों की भाषा भी कुछ ऐसी होती है कि न पूछिये। स्थल–स्थल पर ऐसे शब्द आते हैं, जैसे किशमिशों के ढेर में 'अख़रोट' के छिलके डाल दिये हों! ...फिर सिनेमा–हॉलों में ऐसे–ऐसे लोगों से मुलाक़ात होती है, जो ऐक्टर और ऐक्ट्रेसों की बोली सुनकर हिंदी–भाषा का अंदाज़ा लगाते हैं! पूछते हैं, क्या हिंदी यही है? जी हाँ, यही है, और फ़िल्म डाइरेक्टर इस भाषा के विधाता!'[65] इसी तरह *सुलोचना* या *टेम्पल बेल* की समीक्षा करते हुए समीक्षक ने भारतीय फ़िल्मों के अंग्रेज़ी उपनाम रखने पर आपत्ति जताई और बताया कि दरअसल यह एक अमेरिकी फ़िल्म *रासपुतिन ऐंड दी एम्प्रेस* के आरंभिक दृश्य में आये गिरजे के घंटों की दृश्य–नक़ल को शाब्दिक अनुवाद के रूप में ढालने की अनुचित कोशिश है। क्योंकि 'भारतीय मंदिरों के बुरजों में ऐसे घंटे नहीं लगते'। इसी तरह :

> सुलोचना–जैसी उच्च–कुल ब्राह्मण–कन्या के लिये रात के समय महल में चले जाना कहाँ तक उचित था, यह हमारी समझ में नहीं आता। जो लड़की इतनी ईश्वरभक्त और धर्मभीरू हो, वह चाहे राजा से प्रेम ही करती हो— पर बिना विवाह हुए रात के समय अपने प्रेमी के महल में जाना स्वीकार कर ले हमें तो यह असम्भव प्रतीत होता है। यह तो भारतीय संस्कृति के विरुद्ध है। *अव्वल तो ब्राह्मण–कन्यायें राजपूत–राजाओं से विवाह नहीं करती थीं...*हम मि. चौधरी से निवेदन करते हैं कि उन्होंने इस बात में चरित्र–चित्रण की दृष्टि से भूल की है, और भीषण भूल की है।[66]

---

[65] बेभावकी, *चित्रपट*, 12 जनवरी, 1934 : 28.

[66] 'परख : सुलोचना–2', *चित्रपट*, 19 जनवरी, 1934 : 28.

कहकर शर्मा जी ने निष्कर्ष यह दिया कि रात्रि-अभिसार के किसी विदेशी कथानक की अंधी नक़ल करके इस फ़िल्म के लेखक ने 'वास्तविकता और कलापूर्णता' दोनों की सम्भावना को नष्ट कर दिया है। ज़ाहिर है कि इतिहास की जो किताबें शर्मा जी ने पढ़ी हैं, उनमें उच्च कुलों के बीच भी अंतर्जातीय विवाह नहीं होते थे, न ही ब्राह्मणकुमारियाँ रात्रि को अभिसार करती थीं। गनीमत है कि उन्होंने यह सिद्ध करने की कोशिश नहीं कि 'अभिसार' शब्द संस्कृत का नहीं है! संवाद की भाषा उन्हें भद्दी लगी, क्योंकि वह शुद्ध हिंदी नहीं थी। एक संवाद में उन्हें 'ख़ुशियों का ख़याल' खटकता है, और लगता है कि 'बाप' की जगह 'पिता' होता तो 'सौंदर्य कई गुना और बढ़ गया होता'! एक शुद्धतावादी वर्तमानकालिक आदर्श है जाति, भाषा, संस्कृति और राष्ट्र का, जिसे भूत के काल्पनिक स्वर्णकाल में प्रक्षेपित किया जा रहा है, ऐसा इतिहास और ऐसी संस्कृति जो सर्वथा सुसंस्कृत थी, 'किशमिश में अख़रोट के छिलके' की अवांछित संकरता जिसे छू भी नहीं गयी थी। जहाँ प्रेम पारिवारिक बाड़े के अंदर किया गया वैध लेकिन अदृश्य कृत्य है। दक्षिण एशिया के एक चोटी के कहानीकार स'आदत हसन मंटो की वेश्या-केंद्रित सहमार्मिक कहानियों को हिंदी की ऐसी ही आदर्श नारियों— 'बहन-बेटियों'— के विषम, कठिन-कठोर आदर्शों के बरअक्स रखकर इन्हें 'राष्ट्रीय नैतिक यथार्थवाद' का सटीक नाम दिया था आमिर मुफ़्ती ने।[67] हम वेश्याओं के प्रति *चित्रपट* का रुख़ देख चुके हैं और सिने-अभिनेत्रियों से उनकी पूरी समकक्षता ठहराने की पत्रिका की निर्द्वंद्व चेष्टा भी। हम चाहें तो एक बार फिर मंटो की कहानियों को अपने दिमाग़ में चला सकते हैं, या 'कसौटी'-जैसे उनके लेख पढ़ सकते हैं।[68] बहरहाल इतना तय लगता है कि बीसवीं सदी की भाषा की राजनीतिक लड़ाई संस्कार की शेष लड़ाइयों से अलग नहीं थी, और वाचाल सिनेमा एक नया इलाक़ा था, जिस पर शुद्ध हिंदी का क़ब्ज़ा एक धारावाहिक शृंखला का एक 'एपिसोड' या कड़ी था।

लेकिन इलाक़ा चाहे नया हो, ऐतिहासिक कहानी तो फिर भी पुरानी है, और प्रिंट की इस चिर-परिचित कहानी का महज़ दुहराव लगेगी, अगर हम एक नयी तकनीक से स्वदेशी मुठभेड़ और उसके रचनात्मक परिणामों की सफलता-असफलता पर विचार न कर लें। डेविड आर्नल्ड ने बीसवीं सदी की सिलाई मशीन जैसी कुछ आम उपयोग की मशीनों के अध्ययन में हमें बताया है कि वह ज़माना स्वदेशी का था और कई विदेशी कम्पनियाँ अपने नामांतरण कर देसी हो जाती थीं और बख़ूबी व्यापार करती रहती थीं।[69] सांस्कृतिक उद्योगों के हिसाब से यह मसला उतना सतही नहीं है : पाश्चात्य प्रौद्योगिकी अपने शरीर पर 'मेड इन फ़लाना कंट्री' का लेबल चस्पाँ करके आती थीं, लेकिन उनका आम इस्तेमाल होता था, तो हर वर्ग के लोग

मास्टर दीनानाथ
'कृष्णार्जुन युद्ध'-नामक चित्रपट में अर्जुन के रूप में

[67] आमिर मुफ़्ती (2000) : 1-36.
[68] स'आदत हसन मंटो (1995) : खण्ड-4 : 60-64.
[69] डेविड आर्नल्ड (2013).
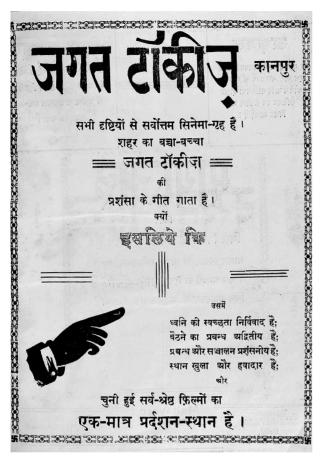
कल-पुर्ज़ों के नामों की दैनंदिन तर्जुमानी करते ही थे : ऊपर हमने बायस्कोप के 'हिंदीकरण' की मिसाल देखी। लेकिन मेरे ख़याल से किसी तकनीक को पुनर्नामित करने का यह रचनात्मक श्रम एक दिलचस्प भाषिक-सांस्कृतिक इतिहास का विषय बन सकता है।

आइए, उस ज़माने में इस्तेमाल किए जा रहे कुछ प्रयोगों पर एक उड़ती-सी नज़र डालें और विचारें कि उसके बाद के दौर में उनका क्या हुआ। टॉकी का ज़माना आया ही था, और अपने साथ एक नयी तरह की उत्तेजना और उत्साह लेकर, जिसकी निशानदेही करते काग़ज़ी विज्ञापन फ़िल्म इतिहास में बार-बार और लगातार उद्धरण के शिकार होकर घिस-से गये हैं। उनको न दुहराते हुए पहले अपने काग़ज़ी मुख़बिर के नाम 'चित्रपट' को ही लें। यह शब्द *चाँद* के 'सिनेमा तथा रंगमंच' स्तंभ में और शायद कई और पत्रिकाओं में इस्तेमाल हो चला था। उसके साथ-साथ सिनेमा और उसके 'शो' के लिए खेल, तमाशा, रजतपट, रुपहला पर्दा तो 'मूविंग इमेजेज़' की तर्जुमानी में 'चलता-फिरता', 'चलित', 'सचल', 'सजीव', 'जीवंत', 'चित्र', 'तस्वीर' आदि पहले से चले आ रहे थे। उनमें 'सवाक', 'वाचाल', 'बोलते', 'मुखर' और 'बोलपट'— जैसे-अद्भुत और नये विशेषण और निकाले गये, जिनमें से कुछ समय तक कई चले भी, लेकिन आजकल शायद ही सिनेमा को इन नामों से जाना जाता है, भले ही 'सजीव' और 'जीवंत' को टेलिविज़न के ज़माने में झाड़-पोंछकर फिर सेवा में लगाया गया। जैसे ही टॉकीज़ की नवइयत गयी, सिनेमा या सिनेमा-घर को उस नाम से पुकारने का सिलसिला बंद होने लगा। आज़ादी से पहले सिनेमा-घरों के नाम अक्सरहाँ अंग्रेज़ी में रखे जाने[70] का चलन था, फिर धीरे-धीरे हिंदी ने उनकी जगह ली, लेकिन वैश्वीकरण और मल्टीप्लेक्स के ज़माने में फिर से कुछ ख़ास इज़ारेदार जातिवाची अंग्रेज़ी संज्ञाओं का बोलबाला हो चला है, जिसमें व्यक्तिवाची नाम कहीं-कहीं अपना अस्तित्व बचा पाए हैं।

थोड़ी हैरानी की बात है, लेकिन व्याकरण भी बदला। चित्रपट के दौर में फ़िल्म का लिंग पुल्लिंग था, जो शायद छठे दशक में जाकर स्त्रीलिंग हो गया, लेकिन उच्चारण में विविधता जारी रही :

---

[70] धनीराम प्रेम के मुताबिक़, 'भारतवर्ष में अभी तक सिनेमा घरों के नाम हिंदी में नहीं रखे गये : केवल कलकत्ता, काशी और प्रयाग में ही दो-एक सिनेमा घर के नाम 'छविघर', 'रूपवाणी', और 'चित्र' जैसे हैं. यदि कोई और कहीं हो तो मेरी दृष्टि से नहीं गुज़रा', 'सिनेमा-घर', *चित्रपट,* नववर्षांक, 1934 : 134.

'फिल्लम' या 'फिलिम' पढ़े-लिखे लोग उपहास में तो ज़्यादातर आदतन बोलते रहे हैं। जब सिनेमा बोलने लगा तो तपाक-से पीछे मुड़कर लिखने वालों ने 'सायलेन्ट' या ख़ामोश फ़िल्मों को 'बेबोलते', 'अवाक', 'मूक' या 'चुप'— सिनेमा कहा। समीक्षा की रस सिद्धांत की कसौटियों पर फ़िल्मों को अक्सर 'हास्य-रस', 'वीर रस', 'शृंगार रस', 'वीभत्स' आदि कोटियों में रखा जाता था, बल्कि अभिनेताओं-अभिनेत्रियों और डायरेक्टरों की अर्हताएँ और दक्षताएँ भी इन्हीं कोटियों के अनुरूप कसकर देखी जाती थीं। स्वयं अभिनेता-अभिनेत्री के लिए संस्कृत नट-नटी भी चलता था, कहानी को कथानक कहते थे, 'पटकथा' लफ़्ज़ तो आया नहीं था, लेकिन स्क्रिप्ट या सेनेरियो के लिए 'प्रतिन्यास' चलता था, जो कहीं वक़्त की गर्दिश में गुम हो गया। लेखकों के आगे 'मुंशी' या 'पंडित' लगाने का जातिवाचक रिवाज था, जो नवल किशोर प्रेस के ज़माने से साहित्य से भी आ रहा था और नाटकों से भी।
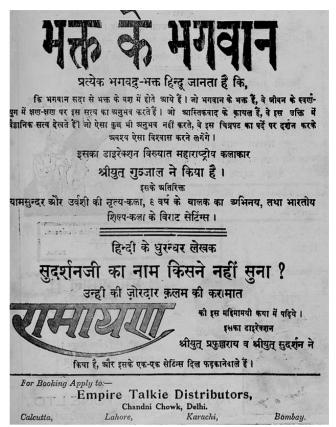
फ़िल्म समीक्षा साहित्यिक अनुकृति में 'आलोचना' या 'समालोचना' कही जाती थी, और समीक्षा के स्तंभ को *चित्रपट* में 'परख' कहा जाता था, जिसे बाद में *माधुरी* ने भी अपनाया, हालाँकि *सुषमा* में 'कसौटी' चलती थी। चौथे ही दशक में देखने वालों के लिए 'दर्शक', 'प्रेक्षक' और उसमें भी 'चवन्नी' वर्ग की कल्पना की जा चुकी थी; सिनेमा के प्रतिबद्ध प्रशंसकों के लिए 'सिनेमा-प्रेमी' और 'सिनेमा-भक्त' भी इस्तेमाल हो रहा था, लेकिन सिनेमा के साथ 'सेवक' या 'सेवी' लगाने में लोगों के संस्कार आड़े आ रहे थे। विश्वंभरनाथ शर्मा 'कौशिक' ने *चित्रपट* के नववर्षांक के लिए एक प्रहसन लिखा — 'चलेगा', जिसमें उन्होंने गुजराती निर्माताओं की प्रखर व्यावसायिक लेकिन सुस्त कलात्मक बुद्धि का मख़ौल उड़ाया।[71] हिंदी सिने-व्यवसाय में मुम्बइया '[सब] चलता है' तब से चलता है, और जिसमें नीर-क्षीर विवेकी कलात्मक कोलकाता की बांग्ला अभिव्यक्ति 'चोलबे ना' से विरोधाभास साफ़ है। व्यापार के इलाक़े में डिस्ट्रीब्यूशन के लिए 'आढ़त' या 'वितरण' जैसे शब्द आसान थे, और *चित्रपट* में तो नहीं , लेकिन जल्द ही निर्देशक, दिग्दर्शक और हिदायतकार डाइरेक्टर के लिए प्रयुक्त होने लगे। व्यापार के इलाक़े में आढ़त या वितरण जैसे शब्द आसान थे, और *चित्रपट* में तो नहीं , लेकिन जल्द ही निर्देशक, दिग्दर्शक और हिदायतकार डाइरेक्टर के लिए प्रयुक्त होने लगे।

[71] विश्वंभरनाथ शर्मा 'कौशिक' (1934), ''चलेगा!'' (प्रहसन), *चित्रपट,* नववर्षांक : 101-106.

विषय-सूची

चित्रपट या दीगर पत्रिकाओं में ऐसे लेख लगातार छप रहे थे, जो सिनेमा की तकनीकी शब्दावली का स्थानीयकरण कर अपने पाठकों के लिए सुगम और सुग्राह्य बना रहे थे। साउंड रिकॉर्डिंग के लिए 'ध्वनि आलेखन' ख़ूब चल रहा था, जबकि लाइटिंग के लिए 'प्रकाशन' आया तो पर प्रिंट के एकाधिकार के चलते ज़्यादा चला नहीं। 'प्रकाश और छाया' लाइट और शेड के समानार्थी थे, जबकि अंदरूनी दृश्य के लिए 'अभ्यंतरिक दृश्य' भी चलाया गया। सिनेमैटॉग्रफ़र के लिए 'आलोक चित्रकार' और सिनेमैटॉग्रफ़ी के लिए 'दृश्यरचना विज्ञान' और 'चित्रपट विज्ञान' जैसे प्रयोग उतने दिलचस्प नहीं थे, जितने कि *स्टिल्स* के लिए 'जड़ चित्र', लेकिन कैमरा-जैसी हस्तामलक हो जाने वाली चीज़ के लिए 'छायाग्रही यंत्र' जैसे दुराग्रही आविष्कार को तो फ़्लॉप होना ही था। उसी तरह इस समय के 'पृष्ठ-संगीत' जैसे शाब्दिक अनुवाद की जगह आगे चलकर पार्श्व-संगीत ने ले ली। सिनेमा-संचालकों के लिए 'परिचालक', प्रॉजेक्शन के लिए 'प्रक्षेपण' और आर्ट डायरेक्टर के लिए कला-दिग्दर्शक हम सुनते हैं। *रंगभूमि* ने सिनेमा-हॉल के लिए 'चित्रपटालय' इस्तेमाल किया, जिसका हश्र हम जानते हैं, लेकिन बाद में इस तरह की संधियाँ या शब्द-मैत्रियाँ 'फ़िल्मिस्तान' और 'फ़िल्मालय' नाम्नी निर्माण कंपनियों के बहुत काम आयीं। समीक्षक सिनेमा की गुणवत्ता को 'उत्तम' (जो विरले होता था), 'मध्यम' या 'अन्य' की कोटियों में बाँटता था : आख़िरी दर्जे की फ़िल्म निहायत सड़क छाप है, 'चवन्नी-छाप' दर्शकों को फिर भी पसंद आ सकती है, यह समीक्षक अक्सर बता देता था। सलमा-सितारे टाँक के ग्रेड देने की प्रथा तो काफ़ी बाद में चली।

उपसंहार

उम्मीद है कि सिनेमा के एक संक्रमणशील और आलोड़नशील दौर का दस्तावेज़ीकरण करने वाली हिंदी पत्रिका(ओं) की यह ऐतिहासिक बानगी उस युग, उसकी फ़िल्मों और उनके बारे में हिंदी में लिख रहे बुद्धिजीवियों के मुख़्तलिफ़ रवैये का आस्वाद करा पाई होगी। *चाँद* और *चित्रपट* की मंशा दस्तावेज़ीकरण की हरगिज़ नहीं थी : बल्कि जैसा कि सर्वपल्ली राधाकृष्णन के आमुख— उद्धरण से साफ़ है, सिनेमा को उपयोगितावादी और सुधारवादी नज़रिये से देखा जा रहा था। इसकी परवान चढ़ती लोकप्रियता का दुर्निवार आकर्षण हिंदी के संपादकों को अपने संस्कारों से मुठभेड़ करने को मजबूर करता है, और वे इस नये खुलते उपनिवेश या बाज़ार पर अपना अख़्तियार हासिल करने को उत्सुक हैं। लेकिन मनवांछित और प्रामाणिक दिशा में ले जाने से पहले व्यवसाय को अवांछित तवायफ़ों और उनके 'धनलोलुप-कामुक' संरक्षकों से आज़ाद कराना ज़रूरी था। इस दिशा में हिंदी जनपद को उनके अपने इतिहास का दर्पण दिखाया जा रहा है ताकि वे अपने शुद्धतावादी ख़ुमार में पारसी थिएटर के साथ किये गये छुआछूत को न दुहरायें, सिनेमा पर पैनी नज़र रखें और उसकी बेहतरी के लिए संगठित आवाज़ उठाएँ। उर्दू से हिंदी में आये सुपरस्टार अफ़सानानिगार प्रेमचंद और सुदर्शन में उम्मीदों का भारी-भरकम निवेश किया जाता है, जिन्होंने आख़िर कुत्सित सड़क-छाप साहित्य की जगह सार्थक, शिक्षाप्रद और परिवर्तनकारी साहित्य की प्रतिष्ठा तो की ही थी। भविष्य का इतिहास बताता है कि सिनेमा को साहित्यानुरागी बनाने की यह मुहिम काफ़ी हद तक फलीभूत होती है, लेकिन समग्र भारतीय और कभी-कभार विश्व लोक-साहित्य से संवाद करके न कि सिर्फ़ हिंदी साहित्य पर मुनहसर हो कर— और फ़िल्म अध्येताओं ने अभी तक यह सवाल नहीं पूछा है कि भारतीय सिनेमा इतने लम्बे समय तक इतना साहित्यानुगामी क्यों रहा? उसी तरह, सुधारक-संपादकों द्वारा पतनशील सिनेमा परिसर को पारिवारिक गृहस्थी में तब्दील करने की सलाह भी दूरगामी, कारगर और कामयाब मानी जानी चाहिए। स्वाभाविकता की दलील देकर गानों की संख्या का परिसीमन मुख्यधारा के लोकप्रिय सिनेमा में अब जाकर ही पूरा हो पाया है, भले ही कलात्मक सिने-आलोचकों के बीच यह लगभग एक स्थायी राग रहा है। यह भी तय है कि सिने-मनोरंजन पर केंद्रित व्यापार-पत्रिका को भव्य विज्ञापनों, अधुनातन तकनीकी जानकारियों और वैश्विक फ़िल्म वैचारिकी से हिंदी के पाठकों को वाक़िफ़ कराने का काम पहले साहित्यिक 'नारीवादी' *चाँद* और फिर *चित्रपट* ने बख़ूबी किया। कालांतर में बदलना तो था ही, सिने-पत्रकारिता सहित बहुत-कुछ बदला भी, लेकिन हैरानी होती है देख कर कि अवाक से सवाक के संक्रमण के ही दौर में कुछ चीज़ों की आवाज़ और उनका टोन जैसे सेट हो गया हो!

(**शुक्रिया :** *चित्रपट* मुहैया कराने के लिए राष्ट्रीय फ़िल्म अभिलेखागार, पुणे, और नवर्षांक के लिए ट्यूबिंगेन के मित्र दिव्यराज अमिय का; *चाँद* के लिए प्रियंवद जी और *रंगभूमि* के लिए नंदकिशोर जी का; लेख के पहले मसौदे पर टिप्पणी के लिए रवि वासुदेवन, शाहिद अमीन और रंजनी मजुमदार का। नेहरू स्मृति और संग्रहालय में की गयी प्रस्तुति के अंश राज्य सभा टीवी पर उपलब्ध हैं। इसके लिखे जा रहे टुकड़ों को धैर्यपूर्वक सुनने और हौसला-अफ़ज़ाई के लिए विनीत कुमार, प्रभात कुमार, दीपू शरण, प्रभात झा, नरेश गोस्वामी, मनोज मोहन, सौम्या गुप्ता, अनोहिता और सुरम्या का, और आख़िर में प्रतिमान टीम में अभयजी, चंदन और जॉय का धन्यवाद, जिन्होंने लेख को इतना सुदर्शन बनाया।)

संदर्भ

अजय ब्रह्मात्मज (2006), *सिनेमा की सोच,* वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली.

अनुष्टुप बसु (2018), '*फ़िल्मफ़ेयर* ऐंड द क्वेश्चन ऑफ़ बेंगाली सिनेमा (1955-65)', *साउथ एशियन हिस्टरी ऐंड*

कल्चर : DOI : 10.1080/19472498.2018.1446794.

अरविंद कुमार (2016), *शब्दवेध : शब्दों के संसार में सत्तर साल : एक कृतित्व कथा,* अरविंद लिंग्विस्टिक्स प्राइवेट लि.,नयी दिल्ली.

अविनाश दास (2020), 'सुचिंतित आलोचना का सूखा कब ख़त्म होगा?' *तद्भव-41, विशेष अंक, पत्रकारिता : यथार्थ, आभास और दु:स्वपन* : 306-309.

अविनाश कुमार (2002), 'हिंदी पत्रकारिता : प्रिंट संस्कृति के बदलते परिदृश्य (1900-1940)', रविकान्त व संजय शर्मा (सं.) *दीवान-ए-सराय 01 : मीडिया विमर्श : // हिंदी जनपद,* वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली.

आमिर मुफ़्ती (2000), 'अ ग्रेटर स्टोरी-राइटर देन गॉड : जॉनर जेंडर ऐंड माइनॉरिटी इन लेट कोलोनियल इंडिया', पार्थ चटर्जी व प्रदीप जगन्नाथन (सं.), *सबाल्टर्न स्टडीज़, xi : कम्युनिटी, जेंडर ऐंड वायलेंस,* परमानेंट ब्लैक, नयी दिल्ली.

आशीष राजाध्यक्ष और पॉल विलमैन (1999), *एनसाइक्लोपीडिया ऑफ़ इंडियन सिनेमा,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

ओंकारप्रसाद माहेश्वरी (1978), *हिंदी-चित्रपट का गीति साहित्य,* विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा.

इक़बाल रिज़वी (2019), *महात्मा गाँधी और सिने संसार,* इंदिरा गाँधी राष्ट्रीय कला केंद्र, नयी दिल्ली.

इरा भास्कर व रिचर्ड ऐलेन (2009) *इस्लामिकेट कल्चर्स ऑफ़ बॉम्बे सिनेमा,* तूलिका बुक्स, नयी दिल्ली.

कैथरीन हैन्सन (2003), 'लैंग्वेजेज़ ऑन स्टेज : लिंग्विस्टिक प्लुरलिज़म ऐंड कम्युनिटी फ़ॉर्मेशन इन लेट नाइन्टीन्थ सेन्चुरी पारसी थिएटर', *मॉडर्न एशियन स्टडीज़,* खण्ड 27, अंक 2, मई, 2003.

ख़्वाजा अहमद अब्बास (1993), 'के. अहमद अब्बास राइट्स अ लेटर टू महात्मा गाँधी', शमिक बंद्योपाध्याय, *इंडियन सिनेमा : कन्टेम्परेरी पर्सेप्शंस फ़्रॉम द थर्टीज़,* जमशेदपुर : सेल्यूलॉयड चैप्टर.

--------------(2011) 'दो चेहरे', *बेहतरीन अफ़साने,* (अनु.) एम. नदीम. पुस्तक सदन, नयी दिल्ली.

चारु गुप्ता (2001), *सेक्सुअॅलिटी, ऑब्सेनिटी, कम्युनिटी : वीमेन, मुस्लिम ऐंड द हिंदू पब्लिक स्फ़ियर इन कोलोनियल इंडिया,* पर्मानेंट ब्लैक, नयी दिल्ली.

टी.एम. रामचंद्रन (1985), 'फ़िल्म जर्नलिज़म इन इंडिया', टी. एम. रामचंद्रन (सं.), *सेवेंटी इयर्स ऑफ़ इंडियन सिनेमा (1913-1983),* अ सिनेमा इंडिया इंटरनैशनल पब्लिकेशन, मुम्बई.

डेविड आर्नल्ड (2013), *ऐवरीडे टेक्नॉलॅजी : मशीन्स ऐंड द मेकिंग ऑफ़ इंडिया'ज़ मॉडर्निटी,* युनिवर्सिटी ऑफ़ शिकागो प्रेस, शिकागो.

देबश्री मुखर्जी (2013), 'सिनेमा'ज़ रीडिंग पब्लिक्स : दि एमर्जेन्स ऑफ़ फ़िल्म जर्नलिज़्म इन बॉम्बे', रवि सुंदरम (सं.), *नो लिमिट्स : मीडिया स्टडीज़ फ़्रॉम इंडिया,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

नरेश कुमार (2019), 'हिंदुस्तानी म्यूज़िक इन द 20th सेंचुरी : म्यूज़िक फ़ेस्टिवल्स, ब्रॉडकास्टिंग ऐंड म्यूज़िक पब्लिशिंग', एम. फ़िल. शोध-प्रबंध, स्कूल ऑफ़ लिबरल स्टडीज़, आम्बेडकर विश्वविद्यालय, दिल्ली.

नारायण प्रसाद 'बेताब' (2002), *बेताब चरित,* राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, नयी दिल्ली.

नीपा मजुमदार (2010), *वॉन्टेड कल्चर्ड लेडीज़ ओन्ली! फ़ीमेल स्टारडम इन इंडिया, 1930-50,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

पण्डित राधेश्याम कथावाचक (2004), *मेरा नाटक-काल,* राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, नयी दिल्ली.

परिषद-पत्रिका : शोध और आलोचना त्रैमासिक (गोपाल सिंह नेपाली विशेषांक), बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, वर्ष 39, अंक 1-4,

पार्थ चैटर्जी (1994), द नेशन ऐंड इट्स फ्रैग्मेंट्स, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

प्रियंवद (सं.)(2018), *चाँद और माधुरी संयुक्त संचयन : विविध व परिशिष्ट खण्ड (7),* वाग्देवी प्रकाशन, बीकानेर.

भारत सरकार, *फ़िल्म एन्क्वायरी कमिटी रिपोर्ट,* गवर्मेन्ट ऑफ़ इंडिया प्रेस, नयी दिल्ली, 1951.

महेश आनंद (सं.)(2007), *रंग दस्तावेज़, दो खण्ड,* राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, नयी दिल्ली.

फ्रंचेस्का ओर्सीनी (2003), *द हिंदी पब्लिक स्फियर 1920-1949,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

-----------(2009), *प्रिंट ऐंड प्लेज़र : पॉपुलर लिटरेचर ऐंड एन्टरटेनिंग फ़िक्शंस इन कोलोनियल नॉर्थ इंडिया,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

बच्चन श्रीवास्तव (1976), 'फ़िल्मी पत्रकारिता', डॉ. वेदप्रताप वैदिक (सं.), *हिंदी पत्रकारिता : विविध आयाम,* भाग-1.

रविकान्त (2016), 'हिंदी फ़िल्म अध्ययन : *माधुरी* का राष्ट्रीय राजमार्ग', *मीडिया की भाषा-लीला,* सीएसडीस+वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली.

------ (2019), 'विभाजन के बावजूद : चंद गुमनाम ग़ैर-विभाजित फ़िल्में', *आलोचना त्रैमासिक-59, विभाजन के 70 साल-1,* जनवरी-मार्च.

रवि वासुदेवन (2015), 'फ़िल्म जॉनर्स , द मुस्लिम सोशल ऐंड डिस्कोर्सेज़ ऑफ़ आयडेंटिटीज़, 1935-45', *बायोस्कोप : साउथ एशियन स्क्रीन स्टडीज़,* 6 (1).

राजकुमार केसवानी (2011), *बॉम्बे टॉकी : बातें फ़िल्मों की ... फ़िल्मी गीतों की,* वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली.

राम मुरारी (2013), 'फ़िल्म पत्रिकाओं का इतिहास', *नया पथ : हिंदुस्तानी सिनेमा के सौ बरस,* जनवरी-जून.

रेचेल डॉयर (2001), 'शूटिंग स्टार्स : दि इंडियन फ़िल्म मैगज़ीन *स्टारडस्ट*', रेचेल डॉयर व क्रिस्टफ़र पिन्नी (सं.), *द हिस्ट्री, पॉलिटिक्स ऐंड कंज़म्प्शन ऑफ़ पब्लिक कल्चर इन इंडिया,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

रोज़ी टॉमस (2011), 'डिस्टेन्ट वॉइसेज़, मैजिक नाइव्स : लाल-ए-यमन ऐंड द ट्रांज़ीशन टू साउंड इन बॉम्बे सिनेमा', रेचेल डॉयर ऐंड जेरी पिंटो (सं.), *बियॉन्ड द बाउन्ड्रीज़ ऑफ़ बॉलीवुड : द मेनी फ़ॉर्म्स ऑफ़ हिंदी सिनेमा,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

ललित जोशी (2009), 'सिनेमा ऐंड हिंदी पीरियॉडिकल्स इन कॉलोनियल इंडिया : 1920-1947', मंजू जैन (सं.) *नैरेटिव्स ऑफ़ इंडियन सिनेमा,* प्राइमस बुक्स, नयी दिल्ली.

वसुधा डालमिया (1997), *नैशनलाइज़ेशन ऑफ़ हिंदू ट्रैडिशन्स : भारतेंदु हरिश्चंद्र ऐंड नाइटींथ सेंचुरी बनारस,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

वाय.ए. फ़ज़लभॉय (1939), *इंडियन फ़िल्म : अ रिव्यू,* बॉम्बे रेडियो प्रेस, बम्बई.

विनोद भारद्वाज (2006), *सिनेमा : कल आज और कल,* वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली.

विनोद तिवारी (2007), *फ़िल्म पत्रकारिता,* माखनलाल चतुर्वेदी विश्वविद्यालय पत्रकारिता एवं संचार विश्वविद्यालय+वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली.

विभास चंद्र वर्मा (2013), 'पन्ने पर बोलपट', *नया पथ : हिंदुस्तानी सिनेमा के सौ बरस,* जनवरी-जून.

विभूति दुग्गल (2015), 'द कम्युनिटी ऑफ़ लिस्नर्स : रायटिंग अ हिस्ट्री ऑफ़ हिंदी फ़िल्म म्यूज़िक ऑरल कल्चर्स', पीएचडी शोध-प्रबंध, सिनेमा स्टडीज़, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय.

विश्वंभरनाथ शर्मा 'कौशिक' (1934), ''चलेगा!'' (प्रहसन), *चित्रपट,* नववर्षांक : 101-106.

वीर भारत तलवार (1994), *राष्ट्रीय नवजागरण और साहित्य : कुछ प्रसंग, कुछ प्रवृत्तियाँ,* 'सेवासदन पर फ़िल्म : राष्ट्रीय आंदोलन का एक और पक्ष', हिमाचल पुस्तक भण्डार, नयी दिल्ली.

शंभुनाथ व रामनिवास द्विवेदी (सं)(2012), *हिंदी पत्रकारिता हमारी विरासत, खण्ड-1 व 2,* वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली.

स'आदत हसन मंटो (1995), 'कसौटी', शरद दत्त व बलराज मेनरा (सं.) *दस्तावेज़ मंटो, खण्ड-4,* राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली.

सिद्धार्थ भाटिया (2015), *द पटेल्स ऑफ़ फ़िल्मइंडिया : पायनियर्स ऑफ़ इंडियन फ़िल्म जर्नलिज़म,* इंडस सोर्स बुक्स, मुम्बई.

स्टीफ़न पटनम ह्यूज़ (2007), 'म्यूज़िक इन दि एज ऑफ़ मेकैनिकल रिप्रॉडक्शन : ड्रामा, ग्रामोफ़ोन, ऐंड द बिगिनिंग ऑफ़ तमिल सिनेमा', *जर्नल ऑफ़ एशियन स्टडीज़,* खण्ड 66, नं. 1, फ़रवरी.

हरमन्दिर सिंह 'हमराज़' (1988-2018), *हिंदी फ़िल्म गीत कोश,* खण्ड 1-6, कानपुर.

वेब कड़ियाँ

भविष्य की कुछ फाइलें : https://archive.org/details/BhavishyaYear1Issue21930RamRakhaSinghSehgal. और https://archive.org/details/BhavishyaYear1Issue31931RamRakhaSinghSehgal_201606.

हिंदी फ़िल्म पत्रकारिता : शुरुआती दौर (1928-1960) : https://www.youtube.com/watch?v=um9FTSFWAYc

अख़बारी क़तरनों का ऑनलाइन संग्रह : http://hindi-movies-songs.com/joomla/inde&.php/hindi-films/mag azines-newspapers.